Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संपादक
यशदेव शल्य - मुकुंद लाठ

प्रबन्ध संपादक
अंबिकादत्त शर्मा

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का
वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 19, अंक 1
जनवरी, 2005

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 19 अंक 1 जनवरी, 2005

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध-सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. **गोविन्दचन्द्र पांडे**, द्वारा श्री वी. के. पाण्डे, ए-90 अलकापुरी, पोस्ट आफिस भेल, भोपाल-462024
2. **दयाकृष्ण**, चौथी मंज़िल, एच.डी.एफ.सी. एन्क्लेव, अशोक मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर-302001
3. **रमेशचन्द्र शाह**, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003
4. **अशोक वाजपेयी**, सी-60, अनुपम को-आपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली-96

संपादक

1. **यशदेव शल्य**, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015, दूरभाष 2707493
2. **मुकुन्द लाठ**, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302006 दूरभाष 2294737 / 2293725

प्रबन्ध-संपादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा**, बी.डी.एस. 2, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर-470003 दूरभाष 07582-220587

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/-
संस्थाएं : रु 75/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 500/-
संस्थाएं : रु 5000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेजर कम्पोजिंग तथा श्रीजी प्रिण्टर्स, नाटी इमली, वाराणसी द्वारा मुद्रित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1.	अपोहात्मक अर्थाभिधान की बौद्ध संकल्पना	अम्बिकादत्त शर्मा	1
2.	काश्मीर शैवदर्शन : आधारभूत अवधारणा और प्रतिमानक के रूप में प्रत्यभिज्ञा की भूमिका	नवजीवन रस्तोगी	13
3.	शास्त्रस्वरूपविषयक सिद्धान्त एवं तर्कशास्त्र के विकास की दिशायें	विश्वम्भर पाहि	29
4.	काव्य और सौन्दर्य	यशदेव शल्य	51
5.	पुस्तक समीक्षा		
	(1) काव्यविमर्श, ले.यशदेव शल्य	राधावल्लभ त्रिपाठी	61
	(2) तत्त्व-चिन्तन, ले.यशदेव शल्य	प्रियव्रत शुक्ल	82

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपोहात्मक अर्थाभिधान की बौद्ध संकल्पना

अम्बिकादत्त शर्मा

परमार्थस्तु अर्थानां तूष्णीभावः। यदि भाषा-दर्शन से विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि बौद्ध नैयायिकों का सम्पूर्ण दार्शनिक चिन्तन इस बात से सम्बन्धित है कि वह क्या है जिसे भाषा के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता, और भाषा के माध्यम से जो कुछ व्यक्त होता है उसका स्वरूप क्या है? क्या भाषा किसी वस्तु के स्वरूप को व्यक्त करती है अथवा भाषा के द्वारा जो कुछ व्यक्त होता है वह किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप न होकर कुछ और ही होता है ? क्या मानवीय संज्ञान की कोई ऐसी भी स्थिति है जहाँ ज्ञान तो हो लेकिन भाषा अनुपलब्ध रहती हो? क्या भाषा में ही कोई अन्तर्निहित कमज़ोरी है कि ज्ञान की वह अवस्था, जहाँ वास्तविकता अपने स्वरूप में उपलब्ध होती है, भाषा की पहुँच से परे रहती है? या कहें कि 'भाषा' की भी अपनी स्वायत्तता है और यथार्थ का प्रकटीकरण वह अपनी स्वायत्तता में ही करती है ? तब भाषा की प्रकृति को किस प्रकार समझा जाय? भाषा में व्यक्त वास्तविकता किस प्रकार अपने स्वरूप से च्युत हो जाती है ?

I

उपर्युक्त समस्याओं पर बौद्ध नैयायिकों ने एक तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि पर ज्ञानमीमांसीय आधार पर गम्भीरता से विचार-विमर्श कर जो स्थापना की है उसे '*अपोहवाद*' का नाम दिया है। अपोहवाद ही बौद्धों के भाषा-दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त है। यह भाषा और सत् के स्वरूप के साथ कितना न्याय करता है यह कहना तो कठिन है, किन्तु इसमें एक मूलग्राही दृष्टि है जो शब्द और उसके अर्थ के महत्त्वपूर्ण पक्ष को उद्घाटित करती है। दूसरे शब्दों में कहें तो, अपोहवाद की मौलिकता इस बात में निहित है कि भाषा की मूलगामी भूमिका विधानपरक नहीं बल्कि निषेधमूलक है। इसीलिए आचार्य दिङ्नाग ने शब्द और विकल्प में परस्पर जन्य-जनक भाव को स्वीकार किया है (*विकल्पयोनयः शब्दा, विकल्पाः शब्दयोनयः*)। बौद्ध चिन्तन-परम्परा के इतिहास में यद्यपि इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रवर्तन आचार्य दिङ्नाग ने किया था तथापि बौद्ध दर्शन के सभी सम्प्रदायों से इसका अविरोध सम्बन्ध बताया जा सकता है। तदुपरान्त धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर गुप्त, शान्तरक्षित, कमलशील, ज्ञानश्री मित्र, रत्नकीर्ति इत्यादि के द्वारा इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है। आचार्य कुमारिल भट्ट, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य इत्यादि के द्वारा अपोहवाद के भूरिशः खण्डन ने भी इस सिद्धान्त के विकास और परिष्कार को भरपूर प्रभावित किया है।

अपोहवाद शाश्वतवादी तत्त्वचिन्तन और उसके भाषा-दर्शन के विरोध में क्षणिकवादी तत्त्वदृष्टि का भाषा-दर्शन है। इसका प्रत्यक्ष विरोध नैयायिकों के तत्त्वचिन्तन और तदनुरूप उनके भाषा-दर्शन से है। नैयायिक शाश्वतवाद का पोषण जाति या सामान्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तत्त्व के आधार पर करते हैं जिसका भाषा से सीधा-सीधा सम्बन्ध होता है। अर्थात् भाषा तत्त्व को उसके वास्तविक स्वरूप में व्यक्त करती है, अथवा किसी वस्तु का वही वास्तविक स्वरूप होता है जैसी वह भाषा में प्रदर्शित होती है। इसके विपरीत बौद्ध नैयायिकों का यह मानना है कि तत्त्व अपने अन्तिम विश्लेषण में क्षणिक ही सिद्ध होता है और भाषा उसे कदापि व्यक्त नहीं कर सकती। भाषा के द्वारा तत्त्व के संश्लेषित और विकल्पात्मक स्वरूप का ही विन्यास हो पाता है।

यद्यपि आस्तिक परम्परा के भाषा-दार्शनिक चिन्तन में भाषा और सत् (शब्दार्थ) के सम्बन्ध को *नित्यसिद्ध* स्वीकार किया गया है किन्तु विचारणीय है कि क्या सचमुच भाषा और सत् के मध्य सम्बन्ध का कोई तात्त्विक आधार है या '*भाषा*' मात्र मनुष्य की *प्रतीक-रचना* की योग्यता का एक ध्वन्यात्मक बौद्धिक अनुशासन है? भाषीय आधार पर हमारे व्यवहार व्यवस्थित रूप में सम्पन्न होते हैं, क्योंकि भाषा और सत् में सम्वाद है। इस सम्वाद के तात्त्विक आधार के लिए क्या हम कह सकते हैं कि भाषा के शब्दों अथवा वाक्यों में अर्थविशेष को व्यंजित करने की स्वाभाविक या *ईश्वर* प्रदत्त शक्ति होती है?[2] क्या इसीलिए बाह्य जगत् और आन्तरिक अनुभूतियाँ हमारी भाषा में चित्रित होती हैं और उस भाषा विशेष का व्याकरण इस भाषीय प्रतिबिम्बन की सम्प्रेषणीयता को नियमों में व्यवस्थित करता है?

यदि भाषा और सत् के प्रति उपर्युक्त दृष्टि के मूल में देखने का प्रयास किया जाय तो इसके पीछे नित्यतावादी तत्त्व-दृष्टि, वेदों का सर्वोच्च प्रामाण्य और ईश्वर की भूमिका ही परिलक्षित होती है। इन सब से परे भाषा और सत् का सम्वाद मानव-मन की एक सहज, सामान्य स्वीकृति है जिसे उसने शताब्दियों के अपने अनुभव और व्यवहार से दृढ़ किया है। बौद्ध नैयायिकों ने भाषा और सत् पर विचार करते हुए भाषा को विकल्प तक ही सीमित रखा है। उनके अनुसार शब्द का अर्थ (वस्तु) से और अर्थ का शब्द से कोई तात्त्विक निबन्ध नहीं है।[3] हमारी बुद्धि में अर्थ का जैसा प्रतिबिम्बन होता है शब्द उसी का ग्रहण करते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं है कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित अर्थ किसी वास्तव अर्थ (वस्तु) का वाचक हो। अतएव शब्द न तो वस्तुनिष्ठ हैं और न ही वस्तुजात, बल्कि शब्द अर्थसंकेत का ध्वन्यात्मक प्रतीक, वक्ता के अभिप्राय का वाचक मात्र है।[4] बौद्धों के अनुसार शब्द की यह वाचकता अपोहात्मक होती है। यही शब्द और अर्थ के सम्वाद-सम्बन्ध को सुनिश्चित करता है। अपोहात्मक वाचन का तात्पर्य यह है कि शब्द अपने अर्थ को विरुद्ध के प्रतिषेधपूर्वक व्यक्त करता है।[5] 'विरुद्ध का प्रतिषेध *अपोह*' यह एक द्विवार निषेध का नियम है, जिसे बौद्ध नैयायिक ज्ञानमीमांसीय आधार प्रदान करते हैं। इसे *अतद्व्यावृत्ति* भी कहते हैं। उदाहरणार्थ—जब हम नील कहते हैं तो नील शब्द अ-नील की व्यावृत्तिपूर्वक नील का विधायक होता है।

II

अनील की व्यावृत्तिपूर्वकता का यह पूर्वानुबन्ध शब्दों के अर्थाभिधान को सरल नहीं रहने देता। इस बात को लेकर अपोहवादी और इसका प्रतिवाद करने वाले पारम्परिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आचार्य एवं आधुनिक अध्येता एतद्विषयक कई बिन्दुओं पर अस्पष्ट प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ–अपोह भाषा का दर्शन है अथवा दर्शन की भाषा है? पुनः, यह अर्थ का दर्शन है या दृश्य अर्थ ही है? शब्द क्यों अपने अभिप्राय का वाचन *अतद्व्यावृत्तिपूर्वक* करता है? क्या स्वयं शब्दों की प्रकृति ऐसी है कि वे अपने अभिप्रेत्य को अपोहात्मक रूप से व्यक्त करते हैं, या शब्दों का अभिप्रेत्य ही स्वरूपतः अपोहात्मक रूप से संरचित होता है और इसीलिए उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति अपोहात्मक होती है? फिर, अपोहन की क्रिया द्विवार निषेधपूर्वक फलित होती है, लेकिन इस रूप में अपोहात्मक द्वैधीकरण का तात्पर्य क्या है? यह समस्त विश्व का द्वैधीकरण है या तद् और अतद् का द्वैधीकरण दृष्टिसाकल्य की सीमित परिधि में प्रतिफलित होता है? द्विवार निषेध के द्वारा किस तरह *`वही और केवल वही'* वस्तु के अर्थाभिधान में तार्किक अनिवार्यता होती है? अपोह कहीं *अन्यापोहविशिष्ट विधि* और कहीं *अन्यापोह* मात्र क्यों है? बौद्धों के लिए अपोहवाद का सही चित्र प्रस्तुत करने के लिए उपर्युक्त विवादास्पद स्थलों का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। हम इस निबन्ध को इसी दिशा में आगे बढ़ाने का प्रयास करेंगे।

अब यदि इस पक्ष को लिया जाय कि शब्द ही प्रकृतितः अपोहात्मक होते हैं, तो शब्द के द्वारा ही अर्थ के अपोहात्मक स्वरूप का निर्धारण स्वीकार करना होगा। ऐसी स्थिति में शब्द *`अर्थस्वरूप निर्धारक'* होने से अर्थपूर्व हो जायेंगे। यह अनुभव का व्यभिचारी है। फिर यह कि शब्द-प्रयोग के अभाव में अर्थ का स्वरूप वैसा नहीं होता जैसा शब्द-प्रयोग के पचात् उद्घाटित होता है। अर्थ की कतिपय ऐसी भी स्थितियाँ हैं जहाँ शब्द-प्रयोग की अव्यपदेश्यता होती है, तो क्या उनका कोई स्वरूप नहीं होता? उदाहरण के लिए वस्तुस्थिति की आत्यन्तिक विलक्षणता शाब्दिक व्यपदेश्यता के योग्य नहीं होती। ज्ञानात्मक स्थितियों में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और स्वसंवेदन को अव्यपदेश्य कहा जा सकता है। *भर्तृहरि* किसी भी ज्ञान-स्थिति को इस रूप में स्वीकार नहीं करते जो शब्दानुविद्ध न हो।[6] वस्तुतः उनकी इस मान्यता की पूर्वमान्यता यह है कि जब ज्ञान को स्वरूपतः निराकार माना जाता है तो ज्ञान भाषा में ही आकार पाता है और इस तरह भाषा ज्ञानाकार की *`योनि'* बन जाती है। बौद्ध ज्ञान को स्वरूपतः निराकार नहीं मानते,अतएव भाषा उनकी दृष्टि में ज्ञानाकार की *योनि* नहीं बल्कि विकल्पाकार की 'योनि' बनती है। पुनः, भाषा में शब्दों का जैसा प्रयोग होता है उनकी संरचना अपोहात्मक नहीं होती है। यदि शब्द की प्रकृति या स्वरूप ही अपोहात्मक होता तो व्यवहार में शब्दों की बनावट भी *`अनिवार्य', 'अविसंवादी'* जैसे शब्दों की तरह द्विविध निषेध या अतद्व्यावृत्ति के उपसर्ग, प्रत्ययपूर्वक होती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि शब्दोच्चारण के अनन्तर वक्ता और श्रोता में तद्-अतद् का द्वंद्व उत्पन्न होता है और तदनन्तर अतद् की व्यावृत्तिपूर्वक अर्थबोध होता है। वक्ता की स्थिति में तो बोध को ही शब्द व्यंजित करते हैं और निर्द्वन्द्व रूप में श्रोता उसी से अवगत होता है। इसलिए शब्दोच्चारण के उपरान्त अपोह फलित नहीं होता बल्कि अपोहित रूप में ही शब्द उच्चरित होते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपोहपूर्वक शब्दोच्चारण का तात्पर्य यह है कि बोध ही अपोह-विशिष्ट होता है।[7] यह अपोह-विशिष्ट बोध निषेधवादियों का बोध नहीं, जिनके मतानुसार पहले अपोह को जानकर बाद में अन्यापोह का विधान होता है, क्योंकि व्यवहार के समय पहले विद्यमान में प्रतीति के विषय का ऐसा क्रम नहीं होता। अतः इसमें प्रतीतिक्रम का व्यभिचार है। यह विधिवादियों का भी बोध नहीं, जिनके अनुसार पहले विधि को समझ कर बाद में अर्थापत्ति से अपोह का समर्थन होता है। यह निरर्थक है, क्योंकि गौ-ज्ञान के पश्चात् अश्वादि के ज्ञान से गाय की उनसे भिन्नता तो समर्थित होती है लेकिन इससे गाय के स्वरूप-ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। अत: गौ का बोध अपने बोध-काल में ही अपोहात्मक होता है। तभी तो गौ-बोध से अश्वादि में प्रवृत्ति न होकर अ-गोव्यावृत्त-गो में ही सबकी प्रवृत्ति होती है।[8]

बोध का स्वरूप अपोहात्मक मानने से अन्ततः यही स्वीकार करने में लाघव है कि बोध जिस अर्थ का ज्ञापक या प्रदर्शक होता है वही स्वरूपतः अपोहात्मक है, क्योंकि बोध कोई स्वतन्त्र तथ्य नहीं होता बल्कि अर्थवशात् होता है। पुनः, बोध और अर्थ का सम्वाद-सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से अनिवार्य और नियत है। केवल इन्द्रिय, करण और सन्निकर्ष-दोष से उत्पन्न भ्रम की अस्वाभाविक स्थिति को छोड़कर बोध और अर्थ के सम्वाद-सम्बन्ध में अव्याप्ति, व्यभिचार और अन्यथात्व नहीं है। अतएव अर्थ की प्रकृति या स्वरूप ही अपोहात्मक है और इसी की अपेक्षा से बोध और उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति में अपोह का उपचार होता है।

अब यदि अर्थ ही अपोहस्वरूप है तो इसकी दो व्याख्याएँ हो सकती हैं। प्रथम यह कि बाह्य घट-पटादि अर्थ (वस्तुएँ) जिस प्रकार सामान्य अनुभव में प्रस्तुत होते हैं वे वस्तुगत्या यथार्थ हैं लेकिन उनका ज्ञान अपोहात्मक रूप से होता है। द्वितीय यह कि अपोहात्मक ज्ञान से पृथक् और पर उनका कोई स्वत्त्व ही नहीं है। इसलिए अर्थ अपोहमात्र हैं। न्यायवादी बौद्धों की वैचारिकी में बाह्य घट-पटादि अर्थ इसी आशय में अपोहमात्र हैं। बाह्यार्थ की ऐसी अपोहात्मकता अनुभव और व्यवहार के उत्तल धरातल पर अधिगत नहीं होती। यह न तो वैखरी वाणी का विन्यास है, न अनुभवपूर्व अतीन्द्रिय[9] है, बल्कि बुद्धि का प्रत्यक्षपृष्ठ-भावी विकल्प है, जिसका भाषा के द्वारा अनिवार्य रूप से अनुगमन किया जाता है। *धर्मकीर्ति* के अनुसार इसकी व्याख्या तो परमार्थ के अन्वेषक व्याख्याकार ही करते हैं, सामान्यजन तो इसी को यथार्थ समझ कर व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं।[10]

धर्मकीर्ति के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि बाह्यार्थों की अपोहात्मकता आनुभविक नहीं है, बल्कि सामान्य अनुभव में जो कुछ गृहीत होता है वह अपोहित होकर ही सामान्य अनुभव का ज्ञेय-विषय या हमारी भाषा का वाच्यार्थ होता है। अतः बाह्यार्थों के ऐसे अपोहात्मक स्वरूप के उद्घाटन के लिए सामान्य अनुभव की संरचना को समझना आवश्यक है। सामान्य अनुभव के धरातल पर व्यवहर्ता तो किसी वस्तु को उसी रूप में यथार्थ समझता है जैसी कि वह प्रतीत होती है, क्योंकि व्यवहर्ता के लिए यह विवक्षा आवश्यक नहीं कि कोई वस्तु ऐसी ही क्यों प्रतीत होती है? परन्तु परमार्थ की विवक्षा रखने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह सामान्य अनुभव के नेपथ्य में आत्म-चेतन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विमर्शपूर्वक यह देखे कि कोई वस्तु ऐसी ही क्यों प्रतीत होती है, अन्य प्रकारक क्यों नहीं प्रतीत होती? धर्मकीर्ति के उपर्युक्त कथन में परमार्थ के अन्वेषक '*व्याख्याकार*' पद से ऐसा ही आशय अभिप्रेत है। आचार्य दिङ्नाग-धर्मकीर्ति बुद्ध की विभज्यवादी पद्धति का अनुसरण करते हुए अनुभव का विश्लेषण कर उसकी अपोहात्मक विकल्परूपता का रहस्योद्घाटन करते हैं और परमार्थ की विधिरूपता लेकिन बौद्धिक अनभिलाप्यता की तर्केण प्रतिष्ठा करते हैं। धर्मकीर्ति के अनुसार सामान्य अनुभव में हमें दो अत्यन्त भिन्न तत्त्व संश्लिष्ट रूप में प्राप्त होते हैं। इसे शक्त-अशक्त, सदृश-असदृश, शब्द का विषय-अविषय, बुद्धि से ग्राह्य-अग्राह्य के द्वैराश्य में विभाजित किया जा सकता है। ये परस्पर विरोधी धर्म हैं जो एक-दूसरे को व्यावृत्त करते हैं। इसलिए इनकी समाश्रयता का एकत्व मानना युक्तिसंगत नहीं है। यह द्वैविध्य अनुभव में सर्वत्र व्याप्त है।[11] जहाँ आवश्यक रूप से एक ही आश्रय में परस्पर व्यवृत्तिमूलक द्वैविध्य प्राप्त हो तो *लौकिक न्यास* दृष्ट्या किसी एक को वास्तविक और दूसरे को आरोपित समझना चाहिए। यही आचार्य दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के प्रमेय द्वैविध्य और तदनुरूप प्रमाण द्वैविध्य के उपागम का आनुभविक आधार है।[12] *प्रमेय द्वैविध्य* का तात्पर्य प्रमेय विप्लव को स्वलक्षण और सामान्यलक्षण में व्यवस्थित करना है। *प्रमाण द्वैविध्य* का तात्पर्य प्रमाण विप्लव को प्रत्यक्ष और अनुमान में नियोजित करना है। स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है।[13] यह किसी वस्तु का अनुभव-निरपेक्ष,अकृत्रिम, अकल्पित,अनारोपित स्वस्वरूप है जो पूर्वापर भाग से सर्वथा रहित, सर्वतोव्यावृत्त, अयोगव्यवच्छेद-विधि-रूप, अर्थक्रिया का क्षणमात्र, देश-काल और सत्ता की क्षणावच्छिन्न एकनिष्ठता है, जो उत्पत्त्यनन्तर निरन्वय विनाशी होता है। सामान्यलक्षण अनुमान का विषय है।[14] यह किसी वस्तु का अनुभव-सापेक्ष, विकल्पारोपित पर-स्वरूप है जो विजातीय व्यावृत्तिवशात् सभी आनुभविक व्यक्तियों में समान रूप से प्राप्त होता है। यह अभिलाप्य, अलीक, अपोहात्मक, अर्थक्रिया में असमर्थ लेकिन अर्थक्रिया का प्रदर्शक, नाम-जात्यादि योजना-सम्प्रयुक्त होता है।

III

यहाँ ध्यातव्य है कि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण समान रूप से सत् दो समानान्तर सत्ताएँ नहीं हैं। एक ही स्वलक्षण के स्वरूप और पररूप में अध्यवसित होने के कारण वही परमार्थ सत् दो प्रमेयों में विभक्त हो जाता है।[15] स्वलक्ष्ण ही अध्यवसित होकर सामान्यलक्षणत्व को प्राप्त होता है। सामान्य अनुभव की परिसीमा में वस्तुनिष्ठ रूप से प्रतीत होने वाली सभी नील-पीत वस्तुएँ अध्यवसित स्वलक्षण हैं। अध्यवसाय सामान्य अनुभव का नेपथ्य है, जिसमें बुद्धि अपनी विकल्पात्मक शक्ति से सामान्य अनुभव की संरचना करती है। अध्यवसाय की सम्पूर्ण प्रक्रिया अपोहात्मक है, इसलिए सामान्य अनुभव में गृहीत नील-पीत वस्तुओं को अपोह कहा जाता है।[16] इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है–निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (कल्पनापोढ़) द्वारा जब नील क्षण का ग्रहण होता है तो वह उसके वर्तमानाभाव को व्यावृत्त करते हुए वर्तमानाभाव के अविनाभावी अतीत और अनागत भाव को भी व्यावृत्त कर देता है। इस प्रकार कल्पनापोढ़ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा शुद्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्तमानावच्छिन्न भाव का ग्रहण बौद्ध नैयायिक स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में प्रत्यक्ष-ग्राह्य विषय (स्वलक्षण) को आन्तरिक एवं बाह्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। यहाँ अभिलाप्यता के लिए कोई अवकाश ही नहीं। प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया अपनी शुद्धता में यहीं विराम को प्राप्त होती है। वस्तुतः बौद्धों का कल्पनापोढ़ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष एक ऐसी स्थिति है जहाँ परमार्थसत् स्वलक्षण-ग्राहक चेतना में स्वीकृति अर्पित करता है और तत्क्षण बुद्धि की मनोजल्पात्मक क्रिया का आरम्भ नहीं हुआ रहता है। तदनन्तर बुद्धि का उत्प्रेक्षणात्मक विकल्प-व्यापार आरम्भ होता है।[17] बुद्धि का प्रथम कार्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ग्राह्य और ग्राहक दो ध्रुवों में विभक्त कर देना है। यह विभक्तीकरण नील विज्ञान और उसके विषयात्मक सन्दर्भ : नील वस्तु : के रूप में होता है, जिनके मध्य बुद्धि *सारूप्य* की स्थापना करती है। सारूप्य दो विलक्षण क्षणों का सालक्षण्य है। यह तत्त्वतः नहीं होता, बल्कि बुद्धि का कार्य होने से विकल्पात्मक ही होता है। बुद्धि उसी अनुपात में सारूप्य की स्थापना करती है जिस अनुपात में वह *असारूप्य* की व्यावृत्ति करती है।[18] इसी सारूप्यवशात् बुद्धि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत क्षणिक प्रतिभास को '*शुद्ध अन्य*' के रूप में बाह्यरूपेण अध्यवसित करती है। 'शुद्ध अन्य' के रूप में स्वलक्षण का अध्यवसाय यद्यपि बौद्धिक एवं विकल्पगर्भित होता है तथापि यह बुद्धि की ही प्रथम निर्विकल्पक स्थिति होने से ग्राह्य-ग्राहक असंवित् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का सजातीय, अविसंवादी होता है। श्चेरबात्सकी[19] के अनुसार यह स्वलक्षणग्राही प्रत्यक्ष और विकल्पात्मक अध्यवसाय की मध्यवर्ती स्थिति है जो दोनों को जोड़ने का कार्य करती है। धर्मकीर्ति के अनुसार यही 'शुद्ध अन्य' के रूप में बौद्धिक प्रज्ञा का निर्विकल्पक विज्ञान सामान्यजन को लभ्य होता है।[20] 'शुद्ध अन्य' के रूप में ज्ञान का स्वरूप साकल्यात्मक होता है। साकल्यात्मक ज्ञान का तात्पर्य यह है कि बुद्धि 'शुद्ध अन्य' के ज्ञान को एक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करती है।[21] तत्पचात् बुद्धि अपने दृष्टि-साकल्प के परिप्रेक्ष्य में उस 'शुद्ध अन्य विशेष' को पंचविध कल्पनाओं में तत्तद् विरुद्ध की व्यावृत्तिपूर्वक विधेयीकृत करती है। यथा—यह चित्रांगदा नाम की शुक्लवर्णा, दूध देने वाली, गोत्व जाति से सम्पन्न गाय द्रव्य है। इसी अतद्व्यावृत्तिपूर्वक 'यह गाय है' के अध्यवसाय के कारण सभी गायों में एक समानता की प्रतीति होती है,[22] जिससे 'यह गाय है' के सामान्य अनुभव का नेपथ्य उपचेतन मन में अपोहात्मक रूप से निर्धारित होता है। आनुभविक रूप में सभी गायें एक-दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी उनमें एक अतद्व्यावृत्ति (अ-गोव्यावृत्ति) की व्यापक समानता होती है। इसी अतद्व्यावृत्ति रूप व्यापक समानता के कारण 'गोत्व सामान्य' या जाति की संकल्पना बुद्धि में आकारित होती है, जो उस जैसे सभी व्यक्तियों को व्याप्त करती है जिनमें आश्रय, आलम्बन, आकार की दृष्टि से सादृश्य और *एकार्थक्रियाकारित्व* की प्रतीति होती है।[23] यहाँ प्रश्न उठता है कि एक ओर तो बौद्ध नैयायिक दो या दो से अधिक व्यक्तियों में समानता का हेतु 'समान अतद्व्यावृत्ति' को बताते हैं और दूसरी ओर '*समान अतद्व्यावृत्ति*' का हेतु दो या दो से अधिक व्यक्तियों में 'समान अर्थक्रियाकारित्व' बताया जाता है, तो उनमें समानता का हेतु अतद्व्यावृत्ति मात्र नहीं रह जाता बल्कि अर्थक्रियाकारित्वगत समानता का वस्तुगत हेतु भी प्रकारान्तर से प्रवेश प्राप्त करता है। धर्मकीर्ति इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि कुछ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वस्तुओं का स्वभाव ही ऐसा मानने में कोई हानि नहीं है। लेकिन ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की स्थिति में अर्थक्रिया का स्वरूप ऐन्द्रिक उद्दीपन मात्र होता है, जहाँ किसी प्रकार का व्यवहारयोग्य भेदग्रहण भी प्रसक्त नहीं होता। यदि कहा जाय कि तब उस स्थिति में स्वलक्षण क्षणों में द्वित्व का ग्रहण किस प्रकार सम्भव हो सकेगा? तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि द्वित्व का ग्रहण भी *अपेक्षाबुद्धिपूर्वक* ही होता है। यहाँ तक कि अध्यवसायपूर्वक ही अर्थक्रिया को भी जल की शीतलता और अग्नि की उष्णता से विशेषीकृत किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि समान अर्थक्रियाकारित्व को भी अध्यवसित समझना चाहिए। क्योंकि दो या दो से अधिक स्वलक्षणों में एकार्थ-क्रियाकारित्व होता है या नहीं, यह केवल बौद्धिक ज्ञान का ही विषय नहीं है बल्कि स्वलक्षणों के पारस्परिक भेदग्रहण में असमर्थ बुद्धि *अभेदाग्रह* के कारण `*एकप्रत्यवमर्ष*'[24] पूर्वक कुछ अध्यवसित स्वलक्षणों में एकार्थक्रियाकारित्व का आरोप भी करती है। इसी कारण उनमें एक ही प्रकार की अतद्व्यवृत्ति का उपचार होने से समानता की प्रतीति होती है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि बौद्धेतर दार्शनिक इस अतद्व्यावृत्ति रूप समानता के सम्प्रत्यय को सामान्य नामक एक ऐसे पदार्थ में रूपान्तरित कर देते हैं जो नित्य भाव रूप से अनेक व्यक्तियों में एक ही साथ अपनी सम्पूर्णता में अनुगत रहते हुए उन सभी व्यक्तियों से पृथक् एवं परे स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। मानव-बुद्धि की अपोहात्मक प्रकृति को समझे बिना सत्ता को जाति-विशिष्ट व्यक्ति और व्यक्तिविशिष्ट जाति को `*टोपोलॉजी*' में स्थापित करना विचारासह्य है। ऐसे सामान्य का तात्पर्य तो एक ऐसी सत्ता से है जो एक साथ अनेक व्यक्तियों में रहते हुए उसी समय व्यक्ति विशेष में उपसित और अनुपसित दोनों एक साथ होता है, क्योंकि एक व्यक्ति में विद्यमान सामान्य अन्यत्र उत्पन्न वस्तु में बिना पूर्व स्थान से हटे अचानक प्रकट हो जाता है। जहाँ वस्तु है उस स्थान से सम्बद्ध हुए बिना वहाँ की वस्तु को व्याप्त करता है। न वहाँ जाता है, न वहाँ पहले से था, और अनायास ही प्रकट हो जाता है। यद्यपि न उसके अंश हैं, न वह पूर्व आधार को छोड़ता है। इसलिए आचार्य दिङ्नाग के अनुसार एकत्व, नित्यत्व और अनेकसमवेतत्व रूप सामान्य नामक भाव पदार्थ मानने से ऐसी कठिनाइयों की शृंखला जुड़ जाती है।[25] ऐसा सामान्य काल्पनिक ही हो सकता है। बौद्धों का अतद्व्यावृत्ति-रूप सामान्य इन सभी गुण-लक्षणों से भी युक्त है।[26] अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य में एकत्व होता है क्योंकि यह प्रत्येक वैसे व्यक्तियों में अनुगत है जिनमें एकार्थक्रियाकारिता होती है, अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य नित्य होता है क्योंकि इसका निषेधात्मक आधार कभी नष्ट नहीं होता। अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य प्रत्येक परिवर्तित होने वाले व्यक्ति में वही बना रहता है। अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य प्रत्येक व्यक्ति में अपनी सम्पूर्णता में समवेत होता है। अतएव बौद्धेतर दार्शनिकों की सामान्य विषयक अवधारणा की अपेक्षा बौद्धों के अतद्व्यावृत्ति रूप से कल्पित सामान्य की संकल्पना में अनेक अनुकूलताएँ एवं तार्किक संगति है। इसलिए सामान्य वर्गविशेष के व्यक्तियों में अनुगत एकत्व, नित्यत्व और अनेकसमवेतत्व से युक्त कोई भाव पदार्थ नहीं है अपितु यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दो या दो से अधिक अध्यवसित स्वलक्षणों में समान अतद्व्यावृत्ति रूप से कल्पित अलीक बुद्ध्याकार है।[27]

इस प्रकार स्पष्ट है कि अध्यवसाय की सम्पूर्ण प्रक्रिया अपोहात्मक है जिसे बुद्धि अपनी अध्यक्षता में द्विविध स्तरों पर सम्पादित करती है। प्रथम स्तर पर बद्धि स्वलक्षण द्वारा ग्राहक चेतना में अर्पित स्वाकार को अन्यव्यावृत्तिपूर्वक 'यह है' के रूप में बाह्यरूपेण अध्यवसित करती है। 'यह है' का अध्यवसाय आनुभविक रूप में भावात्मक होता है, लेकिन इसकी अपोहात्मकता सामान्य अनुभव के नेपथ्य (उपचेतन मन) में सम्पादित होती है। दूसरे स्तर पर बुद्धि आगमनात्मक सामान्यीकरण की पद्धति से समान आश्रय, आलम्बन, आकार और अर्थक्रियाकारित्व वाले व्यक्तियों में अन्यव्यावृत्ति की समानता के कारण सामान्य या जाति की संकल्पना को आत्मसात् करती है। वस्तुतः अध्यवसाय एक प्रकार से बुद्धि की कार्यशाला है जिसमें बुद्धि अपनी विकल्पात्मक शक्ति से आनुभविक जगत् की विविधता का निर्माण करती है और स्वयं उसे ही अपोहात्मक रूप में स्थिर भी करती है। वास्तव में अपोहन अथवा व्यावर्त्तन बुद्धि के व्यापार का एक आवश्यक अंग है जिसे बुद्धि अपने व्यापार के सभी स्तरों पर न्यूनाधिक रूप से सम्पादित करती है।[28] अतः बाह्यार्थ अपने आनुभविक स्वरूप में अन्यापोह मात्र ही है। अपोह विषयक न्यायवादी बौद्ध संकल्पना का यही वास्तविक मन्तव्य है।

IV

अब हम अपोह विषयक बौद्ध संकल्पना के सन्दर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलों की चर्चा करेंगे जिनका स्पष्टीकरण अपोहवाद को हृदयंगम करने के लिए आवश्यक है। बौद्धेतर दार्शनिकों ने 'अपोह' की आलोचना विशेषकर इन्हीं स्थलों को स्पर्श करते हुए की है।

सर्वप्रथम यह कि अपोह एक प्रकार का द्वैधीकरण है। बुद्धि की ऐसी स्वाभाविक प्रकृति है कि वह अतद् की व्यावृत्तिपूर्वक तद् का निश्चय करती है, लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या अपोहात्मक निश्चय में बुद्धि सम्पूर्ण विश्व को अतद् और तद् में विभाजित करती है? यदि अपोहात्मक द्वैधीकरण का तात्पर्य ऐसा ही स्वीकार किया जाय तो अपोहवादी बौद्ध संकल्पना अनन्त व्यभिचार और असम्भव-दोष से ग्रसित हो जायेगी, क्योंकि किसी वस्तु के निषेध के लिए उसका किसी न किसी रूप में ज्ञान आवश्यक है, लेकिन अतद् की व्यावृत्ति के लिए तद् के अलावा अतद् वर्ग में आने वाली संसार की यावत् शेष वस्तुओं का ज्ञान असम्भव है। इसलिए *उद्योतकर* इत्यादि न्यायवैशेषिक दार्शनकों ने अपोह की आलोचना करने में इस कठिनाई को बखूबी उजागर करते हुए आचार्य दिङ्नाग (*'न जाति शब्दो भेदानां वाचकः आनन्त्याद् व्यभिचाराच्च'*) का उपहास किया है। यद्यपि ऊपरी सतह पर अपोह की संकल्पना में यह कठिनाई उचित प्रतीत होती है तथापि अपोह की संकल्पना इससे मुक्त है, क्योंकि अपोहात्मक द्वैधीकरण का तात्पर्य पूरे विश्व को तद्-अतद् में विभाजित करना नहीं है वरन् यह द्वैधीकरण दृष्टि-साकल्य (गेस्टाल्ट) में प्रतिफलित होता है। हम अपने दृष्टि-साकल्प को तद् और अतद् में द्वैधीकृत करते हैं। जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो हम उस वस्तु को तद्देशकालावच्छिन्न उसके पूरे परिपार्श्व में जानते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दृष्टि-साकल्य में किसी वस्तु विशेष का ज्ञान असन्दिग्ध रूप से होता है, लेकिन उस वस्तु के अलावा दृष्टि-साकल्य में आने वाली शेष वस्तुओं का ज्ञान 'एक शीर्षक' के अन्तर्गत समवेत रूप में होता है। अपोह-पद्धति के अनुसार दृष्टि-साकल्य में एक शीर्षक के अन्तर्गत होने वाले समवेत ज्ञान (अतद्) की व्यावृत्तिपूर्वक ही दृष्टि-साकल्य में किसी वस्तुविशेष का ज्ञान असन्दिग्ध रूप में अध्यवसित होता है। यहाँ अवधेय है कि इस प्रकार का व्यावृत्तिमूलक निश्चय *व्यक्ति* का होता है, '*सामान्य*' का नहीं।

अतः अपोहात्मक द्वैधीकरण का तात्पर्य पूरे विश्व को तद् और अतद् में विभाजित करना स्वीकार किया जाय तो अपोह मात्र आकारिक नियम बन कर रह जायेगा, क्योंकि अपोह को आकारिक नियम मानकर ही हम यह कह सकते हैं कि अतद् के निषेध के लिए अतद् में आने वाली वस्तुओं का ज्ञान आवश्यक नहीं है। लेकिन अपोहात्मक पद्धति में पूरे विश्व के द्वैधीकरण के स्थान पर दृष्टि-साकल्य के द्वैधीकरण को प्रस्थापित किया जाय तो अपोह को एक ज्ञानमीमांसीय आधार प्राप्त होता है। यदि पूरे विश्व के परिप्रेक्ष्य में किसी ज्ञानविशेष का घटित होना स्वीकार करने के बदले सीमित दृष्टि-साकल्य में ज्ञान का घटित होना स्वीकार किया जाय तो अतद्व्यावृत्त्यात्मक निर्धारण को अनन्त व्यभिचार और असम्भव दोष से ग्रसित नहीं कहा जा सकता।

द्वितीयतः यह कि अपोह एक द्विवार निषेध का नियम है। बौद्ध इसे अन्यापोह, अन्यव्यावृत्ति और अतद्व्यावृत्ति कहते हैं। बौद्धेतर दार्शनिकों ने इसे '*तद्भिन्नभिन्नत्व*' कहा है। यहाँ अपोह की अवधारणा में 'अ' और 'व्यावृत्ति' का निषेधात्मक उपसर्ग अपोह की संकल्पना को अस्पष्ट कर देता है, क्योंकि बौद्ध और बौद्धेतर दार्शनिकों की निषेध विषयक अवधारणाएँ भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए वे निषेध विषयक स्वस्वीकृत अवधारणा से अपोह की संकल्पना को समझते हैं। यथा—न्यायवैशेषिक दार्शनिकों के लिए निषेध '*अन्योन्याभाव*' है, जबकि दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के लिए निषेध का अर्थ '*पूर्णव्यावर्त्तन*' है। यदि निषेध को 'अन्योन्याभाव' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाय तो द्विवार निषेध विधि तो हो सकता है लेकिन द्विवार निषेध के द्वारा 'वही और केवल वही' के रूप में विवक्षित वस्तु तक पहुँचने की तार्किक अनिवार्यता प्रतिफलित नहीं हो सकती। यथा—जो कुछ गाय नहीं है वह गाय, और केवल गाय, नहीं हो सकता, वह मनुष्य, हाथी, घोड़ा, बन्दर आदि और कुछ भी हो सकता है। क्योंकि अन्योन्याभाव के आशय में 'अ-गाय' मनुष्य या हाथी या घोड़े की एक खुली संहति को सूचित करता है। सम्भवतः जो बौद्ध नहीं हैं, यथा—*प्रशस्तपाद, उद्योतकर, उदयन* इत्यादि, उन्होंने अपोह विषयक बौद्ध संकल्पना को इसी अर्थ में समझा है और उसकी आलोचना की है। आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के लिए निषेध का सम्प्रत्यय केवल आंशिक भेद का वाचक नहीं है वरन् पूर्ण व्यावर्त्तन है। पूर्ण व्यावर्त्तन के आशय में द्विवार निषेध के द्वारा अगाय की व्यावृत्ति करते हुए 'वही और केवल वही' गाय के प्राप्त होने में तार्किक अनिवार्यता है। उदाहरण के लिए, देश-काल विशेष में हमारा दृष्टि-साकल्य क+ख+ग+घ ... की एक संहति है। इसे हम द्विवार निषेध के द्वैधीकरण में 'क' और 'अ-क' में विभाजित कर सकते हैं। इस द्वैधीकरण में 'अ-क' = (ख+ग+घ) की एक बन्द

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(क्लोज़्ड) संहति है, क्योंकि दृष्टि-साकल्य में इनका ज्ञान एक शीर्षक के अन्तर्गत समवेतरूपेण होता है। अतः (ख+ग+घ) की बन्द संहति का पूर्ण व्यावर्त्तन 'क' और केवल 'क' को ही निश्चित करता है। आचार्य दिङ्नाग-धर्मकीर्ति की वैचारिक योजना में 'क' और केवल 'क' से द्योतित होने वाली वस्तु स्वलक्षण नहीं बल्कि उसका अध्यवसित रूप 'सामान्यलक्षण' है। अतएव अपोहविषयक बौद्ध संकल्पना अन्योन्याभाव के आशय में द्विवार निषेध नहीं बल्कि पूर्ण व्यावर्त्तन के आशय में द्विवार निषेध है।

तृतीयतः यह कि अपोह का तात्पर्य अन्यापोह विशिष्ट विधि है या अन्यापोह मात्र है? यह प्रश्न अपोह-विमर्षकों के लिए विवाद का विषय रहा है। यद्यपि आचार्य दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के मत में अपोह का स्वरूप अन्यापोह मात्र है,[29] क्योंकि इन्होंने अपोह का विशेष प्रयोग सामान्यविषयक बौद्धेतर संकल्पना का खण्डन तथा सामान्य को अपोह मात्र बताने के लिए किया है। *वाचस्पति मिश्र*[30] भी बौद्धों के अपोह को इसी अर्थ में ग्रहण करते हैं। किन्तु शान्तरक्षित, कमलशील और रत्नकीर्ति ने अपोह का स्वरूप अन्यापोह विशिष्ट विधि निर्देशित किया है। *श्चेर्बात्सकी* और *धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री*[31] अपोह-सिद्धि का उद्धरण देते हुए इसी का अनुसरण करते हैं। उपर्युक्त दोनों प्रकार की धारणाओं को समन्वित करते हुए कहा जा सकता है कि आचार्य दिङ्नाग-धर्मकीर्ति की अवधारणात्मक योजना में अपोह अन्यापोह विशिष्ट विधि और अनपोह मात्र दोनों है। अपोह जब अध्यवसित स्वलक्षण के लिए प्रयुक्त होता है तो अपोह का तात्पर्य अन्यापोह विशिष्ट विधि है, क्योंकि अतद्-व्यावृत्तिपूर्वक 'तद्' अध्यवसित स्वलक्षण का विधायक होता है जो परमार्थतः विधि रूप तो नहीं होता लेकिन संवृत्ति की अनुमित सीमा में उसी को यथार्थ विधि रूप में व्यवहृत किया जाता है। *रत्नकीर्ति* ने इसी आशय से अपोह को अन्यापोह विशिष्ट विधि स्वीकार किया है।[32]

दूसरे स्तर पर जब अपोह सामान्य या जाति के लिए प्रयुक्त होता है तो अपोह का तात्पर्य अन्यापोह मात्र अभिप्रेत है, क्योंकि इसमें यत्किंचित् साँवृतिक विधिरूपता का भी अभाव होता है। यह तो कुछ अध्यवसित स्वलक्षणों में समान अतद्व्यावृत्तिवशात् बुद्धि में आकारित '*मेटाकॉन्सेप्ट*' है। अन्यापोहविशिष्ट विधि शान्तरक्षित का अर्थात्मक अपोह है, जबकि अन्यापोह मात्र अलीक बुद्यात्मक है। यहाँ हमें विकल्पों के अर्थात् विकल्पीकरण के, दो स्तर प्राप्त होते हैं। प्रथम, स्वलक्षण के सन्दर्भ में और दूसरा सामान्यलक्षण के सन्दर्भ में। जब स्वलक्षण नामजात्यादि प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पों से अध्यवसित होकर सामान्य-लक्षण बनता है तब *अर्थात्मक अपोह* होता है। दूसरे स्तर पर गो-व्यक्ति के रूप में सामान्यलक्षण के सन्दर्भ से समान-अतद्व्यावृत्तिपूर्वक 'गोत्व जाति' की संकल्पना बुद्धि में आकारित होती है। इसे *बुद्ध्यात्मक अपोह* के रूप में समझा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के प्रमेयद्वित्व और प्रमाण-द्वित्व की वैचारिक योजना में अर्थक्रिया का क्षणमात्र स्वलक्षण ही परमार्थतः विधि है जिसे बुद्धि अपनी विकल्पात्मक शक्ति से अध्यवसित कर आभोग्य बनाती है, लेकिन स्वलक्षण के उत्पत्त्यनन्तर निरन्वय विनाशी होने के कारण बुद्धि को उसका विकल्पित रूप ही गृहीत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है और विकल्पीकरण की प्रक्रिया में 'अपोह' आवश्यक रूप से अन्तर्विष्ट रहता है। यह किसी वस्तु के व्यष्टित्व के निर्धारण की पूर्वापेक्षा है और उसी व्यष्टि को व्यवहर्ता (पृथग्जन) अनादिवासना के प्रभाववश यथार्थ समझते हैं और उसी के सहारे पुरुषार्थी ऐसे क्षणसंतान तक पहुँचता है जो अनभीष्ट नहीं होती। अतएव यदि सामान्य अनुभव की प्रामाणिकता वांछित वस्तु के प्रापण और अवांछित वस्तु के वर्जन पर निर्भर करती है तो सामान्य अनुभव की अपोहात्मकता उसकी पूर्वापेक्षा है। अपोहात्मक अनुभव के विषय (बाह्यार्थ) अपोहमात्र हैं, यह आचार्य दिङ्नाग-धर्मकीर्ति की विशेष तत्त्वमीमांसीय चिन्ता है। ज्ञानश्री मित्र ने ठीक ही कहा है–'*परमार्थ की अनभिलाप्यता में ही अपोह का अभिनिवेश है।*'

दर्शन विभाग,
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर 470003

सन्दर्भ

1. पतंजलि, महाभाष्य 1.1 - सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे।
2. इतिविषयक बौद्धेतर दार्शनिकों के दो सम्प्रदाय हैं। प्रथम शक्तिग्रह को 'ईश्वरेच्छा' स्वीकार करता है और दूसरा व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तादि अष्टविधि हेतुपूर्वक शक्तिग्रह स्वीकार करता है।
3. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक - प्रमाणसिद्धि परि. 4, नार्थतत्त्व निबन्धनम्।
4. वही, 3 - शब्देऽप्यभिप्राय निवेदनात्।
5. दिङ्नाग - अन्यशब्दार्थापोह स्वार्थकुर्वति श्रुतिर्भिद्यते। और धर्मकीर्ति - प्रमाणवार्त्तिक (मनो.) स्वार्थानु. परि. 98 - तदन्य परिहारेण प्रवर्तेति च ध्वनिः।
6. वाक्यपदीय - न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥
7. रत्नकीर्ति, अपोहसिद्धि (सिक्स बुद्धि. न्या. टेक्स्ट्स) एशिया. सो., 1989, पृ. 3
8. वही, पृ. 4- यदि शब्दार्थ प्रतिपत्ति काले कालितो न परापोहः, कथं अन्यपरिहारेण प्रवृत्तिः।
9. श्चेर्बात्स्की - बुद्धि. लॉजिक, भाग-2, डोवर प्रकाशन, 1962, पृ. 457. श्चेर्बात्स्की महोदय ने काण्टीय प्रभाव में अपोह को 'ट्रान्सेण्डेन्टल डायलेक्टिक' कहा है। अपोह को ऐसा स्वीकार करने से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा परमार्थ सत् स्वलक्षण का ग्रहण प्रसक्त नहीं होगा बल्कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा भी अपोहित स्वलक्षण का ग्रहण स्वीकार करना होगा। इसे स्वयं श्चेर्बात्स्की महोदय भी स्वीकार नहीं करते। यदि 'ट्रान्सेण्डेन्टल डायेलक्टिक' से उनका आशय प्राग्बौद्धिक है तो हमें कोई आपत्ति नहीं, लेकिन बाद के पृष्ठों में 'ट्रान्सेण्डेन्टल डायलेक्टिक' पद को काण्ट के प्रागनुभविक अर्थ में उन्होंने स्पष्ट किया है।
10. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक (स्ववृत्ति) कर्णगोमि टीका सहित, किताब महल, प्रयाग, पृ. 170 - व्याख्यातार एवं विवेचयन्ति न तु व्यवहर्तारः ... तदभिप्रायवशादेवमुच्यते।
11. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक (मनो.) प्रत्यक्षपरि. 1.2 - सर्वत्र द्वैविध्य संग्रहात्।
12. वही - मानं द्विविधं विषय द्वैविध्यात्।
13. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु, 12, 14 - तस्य विषयः स्वलक्षणम्। तदेव परमार्थ सत्।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

14. वही, 16, 17 - अन्यत् सामान्य लक्षणम्। सोऽनुमानस्य विषयः।
15. धर्मकर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, प्रत्यक्षपरि. 53-54 - मेयं त्वेकं स्वलक्षणम् ... स्वपर रूपाभ्यां गतेर्मेयद्वयं मतम्।
16. मोक्षाकर गुप्त, बौद्धतर्कभाषा, प्रो. बी.एन. सिंह (अंग्रेज़ी अनुवाद), पृ. 88, आशा प्रकाशन, वाराणसी - यथाऽध्यवसायं बाह्य एव घटादिरर्थः अपोह इत्यभिधीयते।
17. धर्मोत्तर, न्याय.बि.टीका, प्रत्यक्ष परि. 21 उत्प्रेक्षणं तु विकल्प व्यापारः ... अनुभवादध्यवस्यन्ति।
18. वही, 21 - तस्माद् असारूप्य व्यावृत्त्या सारूप्यं ज्ञानस्य व्यवस्थापन हेतुः।
19. श्चेर्बात्स्की, बुद्धि. लॉजिक, भाग-2, वही, पृ. 207
20. वही, पृ. 206, वस्तुतः दिङ्नाग-धर्मकर्ति की ज्ञानमीमांसा में यह स्थल टीकाकारों (यथा - धर्मोत्तर, दुर्वेक मिश्र) के लिए विवादास्पद रहा है। मेरे विचार में ग्राह्य-ग्राहक असंवित् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और विकल्पात्मक अध्यवसाय के मध्य सविकल्प गर्भित निर्विकल्पक बौद्धिक प्रज्ञा की स्थिति को स्वीकार करना दिङ्नाग-धर्मकीर्ति की प्रमाणमीमांसा की आन्तरिक आवश्यकता है। यदि इसे स्वीकार न किया जाय तो धर्मकीर्ति का यह कथन कि 'यस्यार्थस्य सन्निधाना-सन्निधानाभ्यां ज्ञान प्रतिभास भेदस्तत् स्वलक्षणम्' किस प्रकार प्रासंगिक होगा, क्योंकि परमार्थतः स्वलक्षण के सन्दर्भ में दूर और निकट का देशीय विशेषण प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इस सन्दर्भ में दुर्वेक मिश्र की व्याख्या द्रष्टव्य है (लेखक की टिप्पणी)।
21. धर्मोत्तर, न्याय. बि.टी., 2.28 - यथा - चैकज्ञानसंसर्गिणि प्रत्यक्षं घटस्य प्रत्यक्षत्वम्।
22. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, प्रत्यक्ष परि. 10. - सर्वत्र समरूपत्वात् तद् व्यावृत्ति समाश्रयात्।
23. धर्मकीर्ति, स्वार्थानु. परि. (स्ववृत्ति) 109 - एककार्यता सादृश्यम्। और प्रमाणवार्त्तिक (मनो.) टीका में मनोरथनन्दी ने समानता के प्रत्यय को पंचविध हेतुपूर्वक बताया है–'आश्रयालम्बनाकार कालद्रव्य समतादिभिः समं प्रयुक्ता सम्प्रयुक्ता', प्रमाणसिद्धि परि. 216.
24. वही, 111 - एकप्रत्यवमर्शस्य ... व्यक्तिनामप्यभिन्नता।
25. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, स्वार्थानुमान परि. 152-53 - जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः।
26. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, शब्दार्थपरीक्षा, 315.
27. धर्मकर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, स्वार्थानुमान परि. 134 - तेनान्यापोह विषयाः प्रोक्ताः सामान्य गोचराः।
28. बुद्धि के बहुआयामिक व्यावर्त्तन व्यापार के लिए श्री यशदेव शल्य की पुस्तक 'चिद्विमर्श' 'आत्म और अनात्म' नामक आलेख विशेष रूप से द्रष्टव्य है।
29. वही, 71 - व्यावृत्तिमिव निस्तत्वं ... व्यावृत्त रूपकाः (प्रमा.वा.)
30. वाचस्पति मिश्र, न्यायकणिका, पृ. 186 - व्यावृत्तमिवनिस्तत्वं परीक्षा भंग भावतः।
31. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, क्रिटिक् ऑफ इण्डियन रियलिज़्म, पृ. 309, आगरा विश्वविद्यालय, प्रकाशन, 1964.
32. रत्नकीर्ति, अपोहसिद्धि (सिक्स न्याय बुद्धि. टेक्स्ट्स) एशियाटि. सोसा., 1989, पृ. 6 - अपोह शब्देनान्यापोह विशिष्टो विधिरुच्यते, और विधि शब्देन च यथाध्यवसायमतद्रूपपरावृत्तौ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काश्मीर शैवदर्शन : आधारभूत अवधारणा और प्रतिमानक के रूप में प्रत्यभिज्ञा की भूमिका

नवजीवन रस्तोगी

कविराज जी की दृष्टि में प्रत्यभिज्ञा न्याय आदि की भांति एक सम्प्रदाय विशेष नहीं है बल्कि एक विशिष्ट चिन्तन-सरणि है[1] जिसकी आंतरिक संरचना में तमाम अवान्तर सम्प्रदायों और बहुतर अनुभव-भङ्गियों की विनियोजना और व्याख्या संभव है। इस चिन्तन-सरणि की पारिभाषिक तौर पर पहचान उसकी प्रक्रियागत और स्वरूपगत अनुसंधानरूपता से होती है जो इस बात की भी व्याख्या करती है कि अपूर्ण-ज्ञान, जो बहुलता का कारण है, का पर्यवसान पूर्णता में कैसे होता है। कहना न होगा कि प्रस्तावित चर्चा का बीज कविराज जी की इसी दृष्टि में निहित है। आज की चर्चा में हम प्रत्यभिज्ञा दर्शन की इसी आंतरिक संघटना पर विचार करेंगे कि कैसे प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यय के साँचे में ढलकर इसकी चिन्तन-सरणि ठोस रूप ग्रहण करती है।

अपने प्रस्थान ग्रन्थ **ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा कारिका** के आदिश्लोक की[2] व्याख्या करते हुए उत्पल और अभिनव प्रत्यभिज्ञा की, संदर्भ भेद से, चार प्रकार की अवधारणा करते हैं–

1. सम्प्रदाय के रूप में
2. शास्त्र, प्रमाण, या उपाय के रूप में
3. सिद्धान्त, ज्ञान, अवधारणा या व्यापार के रूप में
4. फल, उपेय या पर्यन्त मूल्य के रूप में

हम क्रमशः इन पक्षों पर यहां संक्षिप्त विचार करेंगे।

सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन नवीं शताब्दी के आचार्य उत्पलदेव ***नवीन मार्ग (मार्गो नवो)***[3] कहकर करते हैं, इस घोषणा के साथ कि यहां प्रतिपादित सिद्धान्त सोमानन्द की शिवदृष्टि के विचारों को आगे बढ़ाते हैं।[4] इस अर्थ में यह काश्मीर शैवमत की अद्वैतवादी धारा का ख्यापक है। **तंत्रालोक** की विशिष्ट शब्दावली में प्रत्यभिज्ञा की गणना 'तंत्र-प्रक्रिया' में अंतर्भूत चार सम्प्रदायों–त्रिक, क्रम, प्रत्यभिज्ञा और स्पन्द के रूप में की जाती है।[5] इससे भिन्न 'कुल-प्रक्रिया' है जिसके अन्तर्गत पांचवें सम्प्रदाय कुल की गणना होती है। वस्तुतः **तन्त्रालोक** का सारा उद्यम मूल त्रिक को 'अनुत्तर त्रिक', जिसमें कुल प्रक्रिया भी अन्ततः पर्यवसित होती है, के रूप में विकसित करने में है। अनुत्तर त्रिक मूल त्रिक से कहीं अधिक व्यापक है और पूरी काश्मीर शिवाद्वयवादी दृष्टि का समग्र भाव से प्रतिनिधि बनकर सामने आता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इतिहास, अवतारक क्रम, गुरु-परम्परा और साहित्य इन चार आधारों पर परस्पर भिन्न होने के बाद भी अपने तान्त्रिक और आगमिक उद्गम के कारण ये सभी सम्प्रदाय सहोदर और सजातीय हैं। तंत्राश्रयी संप्रदायों के प्ररोह की दो दिशाएं हैं—व्यवस्थित प्रक्रियीकरण और दार्शनिकीकरण। तान्त्रिक शिवाद्वयवाद के विशिष्ट प्रक्रियीकरण या पद्धितीकरण की प्रक्रिया से क्रम, कुल और त्रिक जन्म लेते हैं और तान्त्रिक शिवाद्वयवाद के दार्शनिकीकरण की प्रक्रिया से दो सम्प्रदायों का जन्म होता है—स्पन्द तथा प्रत्यभिज्ञा। तंत्रों पर आश्रित व्यवस्थित दार्शनिक चिन्तन का क्रम आरम्भ होता है वसुगुप्त के **शिवसूत्र** से। इसे आधार बनाकर एक ओर स्पन्दकारिका के माध्यम से स्पन्ददर्शन विकसित होता है और दूसरी ओर **शिवदृष्टि** के माध्यम से प्रत्यभिज्ञा।[6] स्पन्ददर्शन अपने दोनों अवान्तर (शिवप्रधान और शक्तिप्रधान) संस्करणों के द्वारा परमार्थ सत्त्व की अंतरंग गतिमत्वता को केन्द्र में रखता है और पारिभांषिक तौर पर इसे स्पन्द संज्ञा से पुकारता है। स्पन्द की शक्ति या शक्तिचक्र के रूप में भावना करके वह शिवाद्वयवाद की विशिष्ट सन्मीमांसा को विकसित करता है। प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय का उन्मेष काश्मीर शिवाद्वयवाद के आधिकारिक प्रमाण-शास्त्र या ज्ञान-मीमांसा के रूप में होता है। यहां सर्वोच्च चिन्मयी सत्ता को प्रकाश और उसकी आन्तरिक क्रियाशीलता को स्वभाव मानते हुए सारी कालातीत और ऐतिहासिक सर्जनाओं को परम सत् का विमर्श माना जाता है। वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय काश्मीर शिवाद्वयवाद का तर्कदृष्ट्या सबसे पुष्ट दार्शनिक अवान्तर सम्प्रदाय है। यही कारण है कि जयरथ **तंत्रालोक** की अपनी विवेक टीका में सोमानन्द, उत्पल, लक्ष्मणगुप्त और अभिनव आदि आचार्यों को 'तर्कस्य कर्त्तारः व्याख्यातारश्च' कहकर प्रमाण करते हैं।[7] बाद के आचार्य भी **युक्तितत्त्वविचक्षणैः** के रूप में ही उनका स्मरण करते हैं।[8] प्रत्यभिज्ञा द्वारा इस यौक्तिक कवच के निर्माण और भरपूर प्रयोग का कालान्तर में परिणाम यह हुआ कि माधवाचार्य के **सर्वदर्शनसंग्रह** तक आते आते यह सम्प्रदाय काश्मीर के अद्वैतवादी दार्शनिक दृष्टि के प्रतिनिधि के रूप में कीर्तित होने लगता है।

इन्हें तर्कस्य **कर्त्तारः व्याख्यातारश्च** कहे जाने का ऐतिहासिक आधार भी है। वसुगुप्त और कल्लट का संप्रदाय जहां अपना मूल प्रधानतः आध्यात्मिक और रहस्यात्मक अनुभूतियों में पाता है, सोमानन्द और उसके शिष्य उत्पल का मुख्य आधार तार्किक विश्लेषण है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का इतिहास सर्वतोमुखी द्वन्द्वात्मक दार्शनिक अंतःक्रिया का इतिहास है, इसका स्पष्ट संकेत अभिनवगुप्त उत्पल के **प्रकटितः**[9] शब्द की **परवादकलङ्कशङ्कापसारणेन नीतः**[10] व्याख्या में देते हैं। इस दार्शनिक अंतःक्रिया के दो संदर्भ हैं—आंतरिक और बाह्य। अंतःसंदर्भ में इस संप्रदाय की पहली प्रतिबद्धता रही है वैदिक जीवन-दृष्टि से भिन्न नयी जीवन-दृष्टि विकसित करने के प्रति शैवों के अंदर, जिसका मुख्य प्रतिनिधित्व शैव सिद्धान्त करता था, 'मार्गो नवो' कहकर उत्पल इसी आग्रह को प्रकट करते हैं। दूसरी ओर प्रत्यभिज्ञा दर्शन का विकास भारतीय दर्शन की मुख्यधारा के व्यापकतर संदर्भ में हुआ है! न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ, **न्यायमंजरी** के प्रणेता जयन्त भट्ट

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैसे दिग्गज नैयायिक, बौद्ध दर्शन की प्रायः सभी धाराएं, विशेषतः विज्ञानवाद और बौद्धन्याय, जिसकी काश्मीरी धारा के प्रधान मल्ल धर्मोत्तर और रत्नकीर्ति, अद्वैत वेदान्त, मीमांसा, सांख्य और भर्तृहरि का व्याकरण दर्शन, जिसके यशस्वी टीकाकार हेलाराज और पुण्यराज अभिनव के कुछ ही पूर्व हुए थे, इनके साथ चली आलोचनाओं और प्रत्यालोचनाओं के दौर में यह सम्प्रदाय एक तार्किक ढांचा और स्वतन्त्र विचार-संस्थान विकसित करता है। इसे मोटे तौर पर द्वन्द्वात्मक अंतःक्रिया का बाह्य संदर्भ या स्रोत कहा जा सकता है। प्रत्यभिज्ञा दार्शनिकों की प्रवृत्ति की तीसरी दिशा दर्शनगत मौलिक समस्याओं का समाधान विशुद्ध तान्त्रिक परिप्रेक्ष्य में ढूंढने की उनकी तत्परता में दिखाई पड़ती है : ऐसी तर्क प्रणाली जो तांत्रिक प्रमेयों के आनुभविक आधार से पुष्ट भी हो और उनकी पोषक भी।[11] इन सबसे हटकर प्रत्यभिज्ञा आचार्यों का आग्रह, इसे केन्द्रीय आग्रह कहना चाहिए, ऐसी सर्वाङ्गीण दार्शनिक दृष्टि खोजने में है जो एक ओर तान्त्रिक परम्परा के सभी सम्प्रदायों को ग्राह्य हो, भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की अंतर्धारा से जुड़ी हो और हमारे सांस्कृतिक अनुभवों की जीवन्त व्याख्या कर सके। इसे प्रत्यभिज्ञा का सनातन संदर्भ कहा जा सकता है।

उपर्युक्त चिन्तनात्मक विकास के अभाव में प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय संभवतः एक साधारण संप्रदाय बनकर रह जाता। सोमानन्द उस परम्परा में आते हैं जो काश्मीर में तांत्रिक अद्वैतवादी धारा के आदि पुरुष त्रैयम्बक से प्रारम्भ होती है। उनकी **शिवदृष्टि**, जिसको उत्पल प्रत्यभिज्ञा का प्रेरक ग्रन्थ तो मानते हैं पर प्रवर्तक नहीं,[12] से सोमानन्द का तात्कालिक परिदृश्य साफ झलकता है। उनका फलक विशुद्ध रूप से शैव फलक है जिसमें वे अपने ही कुटुम्बी शाक्तों—प्रद्युम्नभट्ट आदि—के शक्ति-पारम्यवाद की आलोचना करते हैं। उनकी प्राथमिकता थी शैव सिद्धान्तियों के द्वारा आगमों की व्याख्याओं में प्रतिष्ठिति शिव की सर्वोच्चता को अपने दर्शन में प्रतिष्ठित करना, जहां शक्ति उससे अभिन्न होती हुई भी उससे गौण है।[13] सिद्धान्तियों के तांत्रिकीकरण से दार्शनिकीकरण की ओर उनका यह पहला कदम था। जिस शिव की परिकल्पना उन्होंने की उसकी स्थापना में तो नहीं पर बौद्धों के विरुद्ध ज्ञानों की आत्यन्तिक एकता को बताने के लिए वे प्रत्यभिज्ञा की धारणा का आसूत्रणमात्र करते हैं, पल्लवन नहीं। वेदान्त की तमाम विचारभङ्गियों की समीक्षा द्वारा वे जगत् की शिवरूपता और शिवरूपतया सत्यता की घोषणा करते हैं[14] और सर्वशिवता, समशिवता और एकशिवता की शब्दावली में अपने अद्वैतवादी सिद्धान्त की नींव रखते हैं।

शिव की परिकल्पना शक्तिमान् के रूप में करते हुए उसे चिद्, आह्लाद, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप शक्तिपंचकमय मानते हैं।[15] सत्त्व को वे एक ओर इच्छा, ज्ञान और क्रिया का संगमन मानते हैं[16] तो दूसरी ओर विज्ञानवाद के आलोक में परमार्थ सत्ता को चिद् की अभिव्यक्ति से जुड़ा पाते हैं।[17] चिद्व्यक्ति से सत्ता की यह योगिता आगे चलकर चित् और सत्ता के समीकरण का मार्ग प्रशस्त करती है। बौद्धों के क्षणिकवाद, वेदान्तियों के विवर्तवाद और सांख्य के जड़वाद को नकारते हुए वे वैयाकरणों के पश्यन्ती रूप शब्दब्रह्म

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को भी नकारते हैं। वैयाकरणों का यह तिरस्कार उत्पल के द्वन्द्वात्मक चिन्तन में बिल्कुल विरोधी व्यंजनाओं के साथ उभरता है, जैसाकि हम आगे देखेंगे। आपाततः अप्रासंगिक लगने वाला एक उल्लेख यहां आवश्यक होगा। **तंत्रालोक** के टीकाकार जयरथ सोमानन्द का क्रमदर्शन से गहरा संबंध बताते हैं।[18] प्रत्यभिज्ञादर्शन के स्वरूप-विकास में इसका महत्त्व हम शीघ्र ही देखेंगे।

उत्पल की प्रत्यभिज्ञाकारिकाओं के साथ हम एक क्रान्तिकारी दौर में प्रवेश करते हैं। **शैवसिद्धान्त** के प्रमातृ-भेद का अद्वैती रूपान्तरण कर और अनुभव और ज्ञान की समग्र प्रकारता में प्रत्यभिज्ञान की अंतर्व्याप्ति का आविष्कार कर उत्पल एक ऐसे अतिक्रामी महाद्वैत का बीजारोपण करते हैं जो अभिनवगुप्त तक आते-आते सर्वहारी पूर्णतावादी दर्शन के रूप में विकसित होता है। यहाँ सोपानीकरण और व्यवस्थितीकरण के माध्यम से सत्ता और अनुभव के किसी भी स्तर का निषेध या अवमूल्यन नहीं होता। वह सत्य की सापेक्षिक और आंशिक अभिव्यक्ति होते हुए भी समष्टि से इस तरह जुड़ा होता है कि प्रत्येक पूर्ववर्ती परवर्ती में अनुस्यूत रहता है और प्रत्येक परवर्ती अपने पूर्ववर्ती में आरोहण का सोपान बनता है।[19] जुड़ाव की यह प्रक्रिया केवल आनुपूर्वी ही नहीं है, वह अपने समान्तर क्षैतिज विस्तार में भी ऐसी रहती है। उत्पल ने कई महत्त्वपूर्ण समीकरण प्रतिपादित किये हैं। सत्ता को विज्ञानात्मक बताते हुए उन्होंने उसे प्रकाश संज्ञा दी और विमर्श को उसका स्वभाव बताते हुए विचार की स्वतन्त्र गतिशीलता को रेखांकित किया।[20] इसी विमर्श को परावाक् की शक्ति-रूपता के आसूत्रण से वह एक[21] ओर तो सोमानन्द द्वारा किये गए भर्तृहरि के निर्वासन को रद्द करते हुए उन्हें वापिस लाये और दूसरी ओर उन्होंने समग्र अस्तित्व को शब्दात्मक घोषित करते हुए बौद्धों के अभिलाप द्वारा सत् की अग्राह्यता और सत् की उद्गृहीत ऐकान्तिकता का निराकरण किया। आभासवाद का प्रतिपादन कर उन्होंने[22] सारे पदार्थों में प्रकाश के सातत्य द्वारा शिवरूपता और उनकी वस्तुता को स्थापित करते हुए सोमानन्द के सर्वशिवता और सर्वसमता को एक तार्किक आधार प्रदान किया और शैवसिद्धांत से लिये गए छत्तीस तत्त्वों को शिव से और शिव में आभासित माना। प्रत्यभिज्ञा के अद्वैत परक आगमिक स्वरूप को दृढ़ करने के लिए उन्होंने अज्ञान की परिकल्पना आत्मा पर पड़े मल के रूप में की, यद्यपि इस मान्यता का बीज उन्हें शैवसिद्धान्त और आगमों की शैवसिद्धान्ती व्याख्या में पाश के सिद्धान्त में मिला था। उसकी पृथग्रूपता को अस्वीकार करते हुए उन्होंने आत्मा के बोध और स्वातन्त्र्य रूप स्वरूप के संकोच की शब्दावली के मल को प्रस्तुत किया और उसे तिरोधान शक्ति की ही प्रकारता में पर्यवसित माना। उत्पल के दो महत्त्वपूर्ण अवदानों में एक था **मालिनीविजयोत्तर तन्त्र** से प्राप्त समावेश के प्रत्यय को मोक्ष के प्रत्यय के रूप में विकसित करते हुए प्रत्यभिज्ञा की ही भांति उसकी साधन और साध्य की दृष्टि से उभयमुखी प्रवृत्ति की अवधारणा। अभिनवगुप्त की **विवृतिविमर्शिनी**[23] में प्राप्त संकेतों के आधार पर उत्पल का दूसरा महत्त्वपूर्ण अवदान था विमर्श की चमत्कार के रूप में प्रस्तुति जो आगे चलकर अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सौन्दर्यानुभूति के विश्लेषण की अन्यतम कारण सिद्ध होती है। सौन्दर्यशास्त्रीय शब्दावली में जहां प्रकाश का अपना आस्वादन चमत्कार है, दार्शनिक शब्दावली में वहीं प्रकाश की आत्मविश्रान्ति अहंविमर्श है।[24] काश्मीर शैवदर्शन के विद्वान मार्क डिच्येस्कॉउस्की इस अहंविमर्श को उत्पल का सबसे बड़ा योगदान मानते हैं।[25] उत्पल का सबसे बड़ा योगदान है परम सत् की एकमात्र लोकातिक्रामी किन्तु अंतर्यामी कर्त्ता और ज्ञाता के रूप में भावना, जो सारी बहुलता को एक सूत्र में पिरोता है और उनका आश्रय बनता है।

अभिनवगुप्त उत्पल की तीसरी पीढ़ी में आते हैं लक्ष्मणगुप्त के माध्यम से। लक्ष्मणगुप्त का योगदान इतना ही है कि उन्होंने अभिनवगुप्त जैसा मेधावी शिष्य भारत की मनीषा को दिया। उत्पल की भांति अभिनवगुप्त के योगदान को सिद्धान्तों के नामग्रहणपूर्वक परिभाषित नहीं किया जा सकता। ज्ञानचतुष्क या उपायों का सिद्धान्त, बिम्बप्रतिबिम्बवाद की शब्दावली में संसृति-प्रक्रिया और अनुत्तर त्रिक की अवधारणा और **तंत्रालोक** के रूप में त्रिक-प्रक्रिया और **परात्रिंशिकाविवरण** के रूप में अनुत्तरत्रिक-प्रक्रिया की रचना उनके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवदान हैं। परन्तु इनका संबंध प्रत्यभिज्ञा से इतर या अतिदिष्ट क्षेत्रों से है। प्रत्यभिज्ञा में उनका योगदान प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय का असाधारण विस्तार और गहनीकरण है। उत्पल के संकेतों का लाभ उठाते हुए वे सारे प्रभावस्रोतों का भरपूर दोहन करते हैं और **विमर्शिनी** और **विवृतिविमर्शिनी** के रूप में प्रत्यभिज्ञा का मीमांसा-शास्त्र प्रस्तुत करते हैं। प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय की सारी अवधारणाओं के मूल में वे प्रत्यभिज्ञानात्मक संरचना का उन्मेषण करते हैं। वे वस्तुतः 'तर्क के कर्त्ता' की भूमिका में प्रतीकात्मकता, चर्या और अनुष्ठान के आग्रहों से परे हटकर विचार-प्रक्रिया का निष्कर्षण करते हैं। ज्ञान, भाषा, सामान्य और आनुभविक संरचनाओं की बौद्धिक कोटियों का एक परस्परानुबंधी दार्शनिक योजना के संदर्भ में वे, उन्हें वस्तु सत् से उनके संवाद पर कसते हुए, विश्लेषण करते हैं। इसके साथ ही वे प्रत्यभिज्ञा का एक तर्कशास्त्र विकसित करते हैं जहां पूरा ग्रन्थ एक परार्थानुमान के रूप में विकसित होता है। न्याय दर्शन की प्रक्रिया को वे व्यावहारिक स्तर पर स्वीकार अवश्य करते हैं, पर बौद्धों के द्वारा न्याय-पदार्थों के विखंडन के बाद यह भी जता देते हैं कि न्याय का उद्धार प्रत्यभिज्ञा-सम्मत ईश्वर और प्रत्यभिज्ञान्वयी चिन्तन-प्रारूप को स्वीकार करने पर ही संभव है। प्रत्यभिज्ञादर्शन का द्वन्द्वात्मक चिन्तन अभिनव में अपनी पराकाष्ठा पर है। बौद्ध दर्शन के प्रायः सभी सम्प्रदायों का विखंडन करते हुए वे बौद्ध न्याय से अभिलाप की मौलिक (यद्यपि भ्रान्त) अनुसंधानात्मकता का प्रत्यभिज्ञान की अनुसंधानात्मक संरचना में और संवित् के प्रत्यय को विकसित करने में विज्ञानवाद के चिन्तन-प्रारूप का विनियोग करते हैं। शब्द की वास्तविक अनुसंधानात्मकता उनको भर्तृहरि से प्राप्त होती है और वाक्य-संरचना में कारक और क्रिया की पारस्परिक क्रियाशीलता से वे अपने कर्त्ता और कारणता के सिद्धान्त को विकसित करते हैं।

सारी आनुभविक स्थितियों में प्रत्यभिज्ञानात्मकता की अनिवार्य आंतरिक विद्यमानता में उनकी दृढ़ीभूत मान्यता उनसे उनका जो सबसे बड़ा योगदान कराती है वह है काव्य तथा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कला के क्षेत्र में इस विचार के अतिदेशन द्वारा एक सर्वाङ्ग सौन्दर्यशास्त्र की संघटना। वस्तुतः वीक्षा की अन्वीक्षा द्वारा ज्ञान में पूर्णता की खोज करते हुए अभिनव प्रत्यभिज्ञा का पूर्णता दर्शन रचते हैं।

अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज के **प्रत्यभिज्ञाहृदय** में हम प्रत्यभिज्ञा के अंतिम चरण में पहुँचते हैं। सोमानन्द के साथ आगमों की व्याख्या का जो क्रम छूटा था क्षेमराज उस क्रम को फिर से पकड़ते हैं। उनकी अद्वैतवादी व्याख्या की तार्किक परिणति भी इसी **प्रत्यभिज्ञाहृदय** में दिखाई देती है। प्रत्यभिज्ञा के मूल ढाँचे को अपनाते हुए सारे तत्त्वों और अनुभवों की शक्तिरूपता सिद्ध करते हुए, **शिवसूत्र** और **स्पन्दकारिका** के साथ सूत्र-समन्वय करते हुए प्रत्यभिज्ञा के चरम साध्य के रूप में 'चक्रेशत्व-लाभ' का प्रतिपादन करते हैं। इसी चक्रेशत्व-लाभ को वे प्रत्यभिज्ञा का हृदय बताते हैं और इसकी व्याख्या प्रत्यभिज्ञेतर किन्तु प्रत्यभिज्ञा के सहोदर सम्प्रदाय क्रमदर्शन के आलोक में करते हैं।[26] दूसरे शब्दों में, प्रत्यभिज्ञा का हृदय 'क्रम' है।[27] प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय की चर्चा के प्रारम्भ में हमने सोमानन्द के क्रम दर्शन के साथ जिस संबंध की चर्चा की थी उसकी चरितार्थता यहां स्पष्ट होती है। यहाँ यह कहना अवश्य उचित होगा कि अभिनवगुप्त में प्रत्यभिज्ञा का फलक कहीं अधिक व्यापक है और उसका संबंध युक्ति और अनुभव की एक सार्वभौम कसौटी से है। इसी अर्थ में वह एक दार्शनिक चिन्तन-सरणि की मांग पूरी करता है।

इस प्रकार उत्पल और अभिनव द्वारा विकसित प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय दार्शनिक मीमांसा और तान्त्रिक आचार दोनों का ज्ञानात्मक आभ्यन्तरीकरण है। उसके द्वारा अभ्युपगत व्याख्या की मुख्य प्रणाली ज्ञानमीमांसीय है और ज्ञान की प्रक्रिया अनुसंधानात्मक है। शक्ति के द्वारा शिव के जागतिक अवभासन के रूपक का उन्मीलन शैव आचार्य शिव के अहं-प्रत्यभिज्ञान या अहं-प्रत्यवमर्शन की शब्दावली में करते हैं। भर्तृहरि से प्रेरणा लेते हुए अहंप्रत्यवमर्श को वे शब्दब्रह्म या परा वाक् से समीकृत करते हैं ताकि सृष्टि की शब्दनात्मकता की व्याख्या की जा सके। बौद्ध नैयायिकों के साथ शास्त्रार्थ में शैव आचार्य यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि प्रत्यभिज्ञा सारे व्यवहारों का घटक और आधारभूत तत्त्व है। तान्त्रिक प्रक्रिया के रूप में शिव के आत्म-प्रत्यभिज्ञान की अपरिहार्यता और सार्वत्रिकता के उद्घोष द्वारा शैव दार्शनिक जिज्ञासु शिष्य को इसमें पूरी तरह से भाग लेने के लिए प्रवृत्त करते हैं।[28]

शास्त्र, उपाय

प्रत्यभिज्ञा शब्द का प्रयोग, अपने दूसरे अर्थ में, शास्त्र या उपाय के वाचक के रूप में हुआ है। **विमर्शिनी** के मंगल श्लोकों में अभिनवगुप्त ने उत्पल की **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** को शास्त्र की संज्ञा दी है जो अनुत्तर और अनन्य साक्षी मोक्ष नामक पुरुषार्थ का उपाय है। लक्षणया ये तीनों विशेषण जिज्ञासु अधिकारी और जिज्ञास्य परमतत्त्व के वाची भी हैं,[29] क्योंकि वही सबका साक्षी है जो अनुत्तर से अनन्य अर्थात् अभिन्न है। इस शास्त्र की विशेषता है कि यह सोमानन्द के विज्ञान को प्रतिबिम्बित करता है।[30] त्रैयम्बक की मठिका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में उत्पन्न सोमानन्द से जोड़कर उत्पल[31] तथा अभिनवगुप्त उस शास्त्र की आम्नायिकता और त्रैयम्बक मठिका के परम्परागत रहस्य के प्रतिनिधि शास्त्र के रूप इस ग्रन्थ को चित्रित करते हैं।[32] उत्पल आदिश्लोक में महेश्वरप्रत्यभिज्ञा के उपपादन की प्रतिज्ञा[33] करते हैं और अंतिम श्लोक में अपनी प्रतिज्ञा-पूर्ति की सूचना देते हैं।[34] शास्त्र ग्रंथ होते हुए भी इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य यह है कि प्रत्यभिज्ञोपाय के रूप में यह परमेश्वरतन्मयता को जिज्ञासु में संक्रमित करता है।[35] उत्पल का यह ग्रन्थ इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय के प्रस्थान ग्रन्थ अर्थात् प्रवर्तक शास्त्र के रूप में प्रस्तावित है।

पारंपरिक ढंग से शास्त्रों की प्रवृत्ति चार अनुबंधों की चर्चापूर्वक होती है। यहां अभिधेय हैं प्रत्यभिज्ञा-कारिकाएँ, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान की वे साधन हैं। केवल यही नहीं, शास्त्र के अंत में आ रहे **मार्गो नवो** की भी प्रस्तुति इस अर्थ में हुई है, यह हम देख चुके हैं।[36] प्रयोजन को तीन श्रेणियों में बांटा गया है : प्रत्यभज्ञोपाय का ज्ञान (पहला), उसका प्रयोजन है वास्तविक प्रत्यभिज्ञान (दूसरा), और उसका भी प्रयोजन है माहेश्वर्य लाभ (तीसरा)। वस्तुतः अंतिम प्रयोजन ही पार्यन्तिक प्रयोजन है और पहले दो प्रयोजनों की भांति चरम प्रयोजन की अपेक्षा से उपाय श्रेणी में रखा जा सकता है। अधिकारी है बंधनग्रस्त मानव मात्र, और संबंध है—गुरुपरम्परासंप्रदायरूप, अर्थात् परम्परा से आगमिक अर्थ का अभिधेय-अभिधायक भाव। यह संबंध दो रूपों में प्रकट होता है। ग्रन्थ के पार्यन्तिक प्रयोजन अर्थात् माहेश्वर्यलाभ से साध्यसाधनभाव का संबंध है और प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय और शास्त्र के मध्य व्युत्पाद्यव्युत्पादकता संबंध है। इस संबंध का उपाय होने के नाते इस शास्त्र का नाम पड़ा है ईश्वरप्रत्यभिज्ञा।[37] यथावसर हम इन सबकी चर्चा करेंगे।

अभिनव की दृष्टि से केवल **कारिकाएँ** ही प्रत्यभिज्ञाशास्त्र नहीं हैं अपितु उत्पल की वृत्ति[38] और विवृत्ति तीनों को मिलाकर प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के रूप में लेना होगा अन्यथा उत्पल की प्रतिज्ञा पूरी नहीं होगी।[39] उचित होगा कि हम इसमें अभिनवगुप्त की **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** और **विवृतिविमर्शिनी** को जोड़ें। उन्हें क्रमशः **लघुविमर्शिनी** और **बृहतीविमर्शिनी** भी कहा गया है। माधवाचार्य ने **सर्वदर्शनसंग्रह** में इन पांचों को प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में समाहृत किया है।[40] चूंकि प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की प्रवृत्ति अधिकारी जिज्ञासु को परमेश्वर, जो कि वह स्वयं है, की प्रत्यभिज्ञा कराने के लिए हुई है इसलिए वह पूरा शास्त्र पंचावयवी अनुमान का रूप ग्रहण कर लेता है। परार्थानुमान की प्रक्रिया में ये बौद्धों के त्र्यवयवी अनुमान की जगह न्याय की पद्धति का आश्रय लेते हैं।[41] आदिश्लोक **(कथंचिदासाद्य इत्यादि)** प्रतिज्ञावाक्य के रूप में प्रत्यभिज्ञायोग्य सभी वस्तुओं को समेटता है, बीच का ग्रन्थ हेतु, उदाहरण और निगमन का निरूपण करता है और अन्तिम श्लोक **(इति प्रकटितो मया 4.1.16)** समस्त प्रतिज्ञातव्य पदार्थ का निगमन करता है।[42] यहां यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि यद्यपि शास्त्र का तात्कालिक प्रवृत्तिनिमित्त (प्रथम प्रयोजन) प्रत्यभिज्ञा का उपाय बताना है पर उसमें मध्य प्रयोजन 'प्रत्यभिज्ञा का ज्ञान' और पर्यन्त प्रयोजन **महेश्वरतालाभ** भी मध्यग्रन्थ में समाहित हो जाते हैं। यह बात आती है

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रतिज्ञावाक्य (आदिश्लोक) के **समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुं** से जो **तत्प्रत्यभिज्ञा** का विशेषण है, जिस प्रत्यभिज्ञा का हेतु है सारे भाव-अभावरूप बाहरी और आन्तरिक नील और सुख जैसे विषयों का उनके वास्तविक रूप में प्रकाशन और उस प्रकाशन का विमर्श में प्ररूढ़ होना। उसका प्रतिपादन ही मध्यग्रन्थ का प्रयोजन है। दूसरे शब्दों में, जो हमारे दैनन्दिन प्रमा-विषय हैं उनको आत्मरूप महेश्वर से अभिन्न जानना ही पारमार्थिक प्रमाता अर्थात् महेश्वर को जानना है।[43] इसी अर्थ में यह उपाय है।[44] इस प्रकार इस अनुमान का आकार देखने में तो परार्थानुमान का है पर वस्तुतः अतिक्रामी युक्ति के द्वारा शैव अद्वैती दूसरों की मान्य पद्धति के सहारे अपने पारमार्थिक मूल्यों को प्रतिपादित करते हैं।

इस अनुमान की अतिक्रामी संरचना को उत्पल अपने उपोद्घात में पारतात्त्विक संदर्भ में उद्घाटित करते हैं और प्रमाणमीमांसा के संदर्भ में फिर से दुहराते हैं।[45] इससे प्रेरणा लेते हुए अभिनवगुप्त तर्क की इस पद्धति का और भी गहरे स्तर पर प्रयोग करते हैं। 'ज्ञानक्रियाशक्तिमान् आत्मा ही महेश्वर है' यह प्रागनुभविक सत्य है अतः प्रमाणातीत है। इसलिए अनुमान भी उसका न तो ज्ञापन करता है न सिद्धि, वह केवल उसके संबंध में विस्मृति या मोह या मल के आवरण को हटा देता है। इस अर्थ में परार्थानुमान व्यवहार-साधन भर है पर उससे उसकी अतिक्रामी प्रासंगिकता का अपलाप नहीं होता। परार्थानुमान के मौलिक मानक रूप में साध्य है शक्तिमान् आत्मा, उसका हेतु है शक्ति या शक्तिमत्ता, और शक्ति के द्वारा शक्तिमान् का आविष्करण ही प्रत्यभिज्ञा है। अनुमान का सामान्य आकार है :

प्रतिज्ञा	=	अयमात्मा सर्वविषयज्ञानक्रियाशक्तिमान् महेश्वरः
हेतु	=	ज्ञानक्रियाशक्तियोगात्,
उदाहरण	=	यो यावति ज्ञाता कर्त्ता च स तावति राजेव,
उपनय	=	तथा चायं आत्मा विश्वत्रय ज्ञाता कर्त्ता च,
निगमन	=	तस्मात् अयमात्मा सर्वज्ञाता सर्वकर्त्ता महेश्वरः।[46]

अभिनवगुप्त इस मूल संरचना पर आश्रित अनुमान के अनेक प्रकार परिकल्पित करते हैं।[47] यद्यपि अभ्यास और भावना के बल से जिनमें पारमेश्वर्य धर्म का उद्गम हो गया है उनके लिए व्यवहार-साधन-प्रमाण की उतनी सार्थकता नहीं रहती, पर जिन्हें व्यवहार के साधनों में ही शंका है उनके लिए इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।[48] अभिनवगुप्त यहां पर आत्मज्ञानपरक सभी शास्त्रों के संबंध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामान्य टिप्पणी करते हैं–"यावन्ति हि आत्मज्ञानशास्त्राणि श्रुत्यन्तसिद्धान्तरहस्यतंत्ररूपाणि, तानि आत्मनि नैव सिद्धिमपूर्वरूपां रचयन्ति। तस्मात् व्यवहारमात्रसाधनफलानि एव तानीति भावः।"[49] परन्तु मेरे विचार में अभिनवगुप्त का मन्तव्य यदि पूरे परिप्रेक्ष्य में लिया जाए तो वह व्यवहारसाधन से परे जाता है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान में जो शक्तिरूप हेतु है वह स्वभावहेतु है[50] –अयमात्मा शक्तिमान् शक्तिमत्त्वात्। 'हेतु' की 'शक्तिरूपता' से हम आत्मा के अतिक्रामी स्वभाव तक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही पहुँच जाते हैं। कारण यह है कि स्वभावहेतु एक प्रकार का कल्पित हेतु है जो प्रमाता में संवेद्यभेद के कारण तराशा गया है; उससे आत्मा, उसके ज्ञान और उसके ऐश्वर्य की मौलिक स्वप्रकाशता खंडित नहीं होती।[51] व्यवहार-साधन का अर्थ है मोह को हटाना। पर यह मोहापसारण बौद्धिक व्यायाम नहीं है, हृदयङ्गमन व्यापार है। स्वभाव-हेतु होने के नाते वह ठीक हृदय में जा बैठता है, यही इसका कार्य है।[52] इस अर्थ में प्रत्यभिज्ञा का ज्ञानक्रियाशक्ति[53] स्वरूप ही है शक्ति, जिससे दृढ़निश्चयरूप प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है।[54] प्रत्यभिज्ञा शास्त्र को व्यवहारसाधन परार्थानुमान के रूप में पल्लवित करने के पीछे प्रत्यभिज्ञा के आचार्यों का क्या इतना ही प्रयोजन था या कुछ और? प्रत्यभिज्ञा-आचार्यों के लिए इस 'व्यवहार' का एक अन्य अर्थ भी था। अनात्मवादी मतों, विशेष रूप से बौद्धों, के विरुद्ध स्थायी आत्मा की सिद्धि के लिए आत्मवादियों का प्रधान तर्क यह था कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि ज्ञानप्रक्रियाओं के लिए एक स्थिर आधार की अपेक्षा होती है, अतः आत्मा या धर्मी की सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। बौद्धों ने इस तर्क का उपयोग उलटे आत्मवादियों के ही खण्डन में किया। उनकी खण्डनात्मक युक्ति थी:

स्थिर आत्मा (साध्य) नहीं है,

क्योंकि ज्ञान और क्रिया आदि धर्मों को किसी आधार की अपेक्षा नहीं है और अपने में उनका सातत्य एक भ्रांति है (हेतु), उनके मध्य भी कोई संबंध नहीं है, संबंध भी भ्रांति है। (व्याप्ति)।

इसके विरोध में प्रत्यभिज्ञा-आचार्यों ने साधक युक्ति के रूप में प्रत्यभिज्ञा को परार्थानुमान के रूप में विकसित किया। ज्ञान-क्रिया शक्ति या शक्तिमत्त्व (हेतु) के द्वारा शक्तिशक्तिमद्भाव (व्याप्ति) के आधार पर आत्मा (पक्ष) का अभिज्ञान कराया गया।[54] सच पूछा जाए तो बौद्ध दार्शनिकों और प्रत्यभिज्ञा चिन्तकों का यह वैचारिक संघर्ष बहुत सुदीर्घ और सूक्ष्म रहा है जिसकी हमने यहां अत्यन्त स्थूल और संक्षिप्त प्रस्तुति की है। संभवतः इसे 'पूर्णपरार्थानुमान'[56] कहने के पीछे अभिनवगुप्त का यही संकेत है। व्यवहार[57] का निहितार्थ यह भी है कि हमारे दैनिक प्रयोग के आत्मा शब्द का संकेतार्थ है ईश्वर, जबकि बौद्धों के लिए आत्मा की रोज़मर्रा की धारणा केवल विकल्प मात्र है जिसका कोई धर्मिभूत या ठोस मुख्यार्थ नहीं है। ठीक इसी प्रकार जहां धर्मकीर्ति के लिए ऐक्य या तादात्म्य केवल एक व्यावहारिक धारा (सांवृतत्व) मात्र है जिसका वास्तविकता में कोई आधार नहीं है, उत्पल के लिए विकल्पन, जो वस्तुतः विमर्शन की विधा मात्र है, आत्मा की सहज क्रिया है जिसे एक प्रकार की प्रत्यभिज्ञा कहा जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञा की शास्त्र और उपाय के रूप में चर्चा के समय यह उचित होगा कि हम तान्त्रिक संदर्भ के अंतर्गत भी प्रत्यभिज्ञा की उपायरूपता पर विचार कर लें। तंत्रालोक में अभिनवगुप्त ने सारी तांत्रिक दर्शन और उपासना परम्पराओं को चार उपायों (प्रचलित तौर पर 'उपाय-चतुष्क' या 'ज्ञान-चतुष्क') में वर्गीकृत किया है।[58] वे चार उपाय हैं—अनुपाय,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शांभवोपाय, शाक्तोपाय और आणवोपाय। इसमें द्वारिद्वारभाव है। प्रत्येक पूर्ववर्ती द्वारी है और परवर्ती द्वार। जागतिक विकल्प या भेदानुभव के दैनिक जीवन से अविकल्प, अनेकता से एकता तक विकल्पचेतना के क्रमिक संस्कार द्वारा पहुँचना उपाय-योजना का लक्ष्य है। पहला एक प्रकार से विकल्पातीत उपाय न होने जैसा है, शाम्भव में अभेद या निर्विकल्प है, शाक्त में भेदाभेद या शुद्ध विकल्प और आणव में भेद या अशुद्ध विकल्प है। तंत्र में हम क्रिया के माध्यम से उसे पाते हैं जिसे दर्शन में ज्ञान से। अंत में अविकल्प स्थिति या स्वरूप-प्रथन की स्थिति में ज्ञान और क्रिया भी समरस हो जाते हैं। दार्शनिक चिन्तन का भी यही प्रवृत्तिनिमित्त है। तन्त्र-प्रक्रिया के अंतर्गत एक संप्रदाय होने के बावजूद भी प्रत्यभिज्ञा आचार्यों का एकमात्र लक्ष्य रहा है सर्वग्राहिणी दर्शन-पद्धति के प्रवर्तन का और यौक्तिक ढाँचे की संरचना का। अतः यह देखना आवश्यक होगा कि उपर्युक्त उपाय-पारेपाटी में प्रत्यभिज्ञा को किस उपाय से समीकृत किया जा सकता है।

अज्ञान दो प्रकार का है–पौरुष और बौद्ध। ये दोनों अज्ञान एक प्रकार से प्रागनुभविक हैं। वह अज्ञान जिससे हमारा अखंड अस्तित्व परिसीमित हो जाता है और हम समष्टि से व्यष्टीभूत इकाई हो जाते हैं, पौरुष अज्ञान है। इसे ही आणव मल कहते हैं। यही पशुत्व-वासना है। यह हमारे असीम बोधस्वातन्त्र्य का संकुचन है। उसी प्रकार प्रागनुभविक स्वातन्त्र्य-बोध का संकोच बौद्ध अज्ञान मूलक द्वैत विकल्प है जिसके शुद्ध विकल्प या अविकल्प में संस्कार द्वारा सिद्ध बौद्धज्ञान से बौद्ध अज्ञान समाप्त होता है। वही क्षण जीवन्मुक्ति का है। पौरुष ज्ञान से पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होने पर विदेहमुक्ति होती है।[59] बौद्ध अज्ञान के लिए शास्त्र की आवश्यकता पड़ती है।[60] प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की यही प्रासंगिकता है।

प्रत्यभिज्ञा को किस उपाय से जोड़ा जाए इसे लेकर विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है।[61] **प्रत्यभिज्ञा कारिका** में उत्पल पहले विकल्पक्षय से,[62] और फिर विकल्प-सृष्टि के आत्मधर्मतया ग्रहण[63] से, माहेश्वर्य अर्थात् 'मैं ही सर्वत्र ज्ञाता और कर्त्ता हूँ' इस भाव की प्राप्ति बताते हैं। पहली स्थिति को क्षेमराज **प्रत्यभिज्ञाहृदय** में[64] और शिवोपाध्याय **विज्ञानभैरव की विवृति**[65] में शाम्भवोपाय से जोड़ते हैं। एक निर्विकल्पक स्थिति है तो दूसरी शुद्ध विकल्पों की। इस नाते इसे शाक्तोपाय से जोड़ा जा सकता है। यह ज्ञान हमें जीवनकाल में ही मुक्ति दे देता है। चूंकि शाम्भवोपाय से पहली बार जीवन्मुक्ति का संबंध जोड़ा गया है[66] अतः इस बात को बल मिलता है कि प्रत्यभिज्ञा-प्रतिपादित ज्ञान को शाम्भवोपाय के अंतर्गत रखना चाहिए।[67] परन्तु जहां तत्क्षण जीवन्मुक्ति की बात की गयी हैं वहीं परापरसिद्धि की भी, यह बात भेदाभेदमयी स्थिति के प्रतीक शाक्तोपाय[68] के पक्ष में ले जाती है। सामान्य रूप में भेद और अभेद का समन्वय करने के कारण प्रत्यभिज्ञा को भेदाभेद से जोड़ा जाता है और शाक्तोपाय का भी भेदाभेद या शुद्ध विकल्प से स्वरूपात्मक संबंध है। मानसिक चिन्तन शाक्तोपाय का लक्षण है और प्रत्यभिज्ञा का भी। **विवृतिविमर्शिनी** प्रत्यभिज्ञा को ज्ञानोपाय के रूप में वर्णित करती है। ज्ञानोपाय शाक्तोपाय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का ही एक विरुद है। अतः शाक्तोपाय से प्रत्यभिज्ञा की घनिष्ठता की बात भी युक्तियुक्त लगती है।

परन्तु प्रत्यभिज्ञा के अंतःसाक्ष्य के आधार पर प्रत्यभिज्ञा को अनुपाय के साथ एक कोष्ठक में रखा जाना उचित प्रतीत होता है। अनुपाय का अर्थ एक प्रकार से वह उपाय है जिसमें उपायत्व न हो। यह स्थिति अत्यन्त निर्मल हृदय वाले साधक के लिए है। यहां न कोई विकल्प है न कोई उपाय। केवल एक हल्का सा स्पर्श, एक बार का दृष्टिपात ही तत्क्षण प्रत्यभिज्ञान कराने में समर्थ होता है।[69] अनुपाय में जहां आंतर-बाह्य किसी भी प्रकार के उपाय का निषेध किया गया है[70] वहीं इसके विशेष स्वभाव का निरूपण अनेक युक्तियों से बौद्ध अज्ञान के नाश और बौद्ध ज्ञान के उदय द्वारा किया गया है[71] विचित्र बात यह है कि अनुपाय का स्रोत **ऊर्मिमहाशास्त्र** और सोमानन्द में ढूंढा गया है जो प्रत्यभिज्ञा के प्रति प्रतिश्रुत हैं।[72] जयरथ **शिवदृष्टि** 7.5.6 और 7.100 को उद्धृत करते हैं जहां एक बार शिवत्व का बोध हो जाने पर (सकृत्ज्ञाते) किसी भी साधन, करण, भावना या उपाय का निषेध किया गया है।[73] **शिवदृष्टि** की यही पंक्तियां अभिनवगुप्त भी इस तथ्य के अनुमोदन में उद्धृत करते हैं कि प्रत्यभिज्ञा के परामर्श मात्र से जीवनकाल में ही मुक्ति और शिवत्वलाभ हो जाता है।[74] जीवन्मुक्ति को शाम्भव उपाय से ही जोड़ा जाना बहुत बलशाली प्रतीत नहीं होता, क्योंकि बौद्ध ज्ञान मात्र से जीवन्मुक्ति का उदय संभव है यह हमने कुछ ही पूर्व देखा था। स्वयं सोमानन्द भी **शिवदृष्टि** में सर्वभावग्रहणयोग्यता की उपायों से क्रमशः और निरुपाय से सद्यः प्राप्ति की बात करते हैं।[75]

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा का भी लक्ष्य चूंकि ज्ञान के सभी प्रकारों की एक आंतिरक संरचना को प्रकट करना है अतः सर्वोच्च और मुख्य रूप से उसका स्वर अनुपाय का है और बुद्धि के परिष्कार की अक्रमता और क्रमता से शांभव और शाक्त की विनियोजना होती है। इसी प्रकार आगमाधिकार की अंतिम दो कारिकाओं में[76] आणव उपाय को भी ढूंढा जा सकता है। वस्तुतः अनुपाय एक अर्थ में प्राप्य प्रत्यभिज्ञा—माहेश्वर्यलाभ या विश्वात्मा बोध से एक रूप है। अनुपाय रूप प्रत्यभिज्ञा के संबंध में विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहां पौरुष अज्ञान की निवृत्ति के लिए बाह्य अज्ञान की निवृत्ति तो होगी ही, दीक्षा भी इसी से हो जाती है। इसी कारण तत्क्षण जीवन्मुक्ति की संभावना की गयी है।[77] अनुपाय को समझाते हुए कविराज जी कहते हैं—इन सबसे भिन्न, अनुपाय का अर्थ यह है कि ईश्वर की विशेष कृपा से इसमें कभी सन्देह उत्पन्न नहीं होता : वस्तुस्थितियां स्वतः अधिकाधिक स्पष्ट होती चली जाती हैं। उच्च से उच्चतर और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर सत्य सहज रूप से उद्घाटित होते चले जाते हैं।

अगले अंक में समाप्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संदर्भ

1. भा. सं. सा., पृ. 1. कविराज जी के प्रत्यभिज्ञा संबंधी विचारों के लिए देखें 'प्रत्यभिज्ञा दर्शनेर भूमिका' अलका, बनारस, 1922, 'काश्मीरीय शैव दर्शन', भा. सं. सा., भा. 1, पृ. 1-22, Gopinath Kaviraj on Kashmir Saivism, नवजीवन रस्तोगी, नवोन्मेष : महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज स्मृतिग्रन्थ, वाराणसी, 1987, पृ. 30-57
2. कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं परस्याप्युपकारमिच्छन्। समस्तसंपत्समवाप्ति हेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि॥
3. इति प्रकटितो मया सुघट एवं मार्गो नवो। महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा॥–ई.प्र.का. 4.1.16
4. यद्यपि अभिनवगुप्त यहाँ पर मार्ग का अर्थ उपाय करते हैं। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।
5. तं. वि., 1, पृ. 24, 27, 31 और भी देखिए, क्र.ता.,, पृ. 32
6. यहां पर यह टिप्पणी प्रासंगिक होगी कि प्रत्यभिज्ञा आचार्यों ने शिवसूत्र को प्रामाणिक मानते हुए भी उसे आगमान्तर, अर्थात् प्रत्यभिज्ञा धारा से अवान्तर माना है–देखिए ई. प्र. का. 1.5.12 पर विमर्शिनी की अवतरणिका (आगमान्तरैः)। परन्तु जब हम संदर्भ-साकल्य पर विचार करते हैं तो उपर्युक्त निर्णय सहज जान पड़ता है।
7. तं. वि., 2, पृ. 30
8. महानयप्रकाश (त्रिवेन्द्रम) 3.64
9. इति प्रकटितो मया सुघट एव मार्गो नवो। ई. प्र. का. 4.1.16
10. ई.प्र.वि. 1, पृ. 310
11. यत एवं शास्त्रगुरुस्वप्रत्ययसिद्धोऽयमर्थः। –ई. प्र. वि., 1, पृ. 310
12. महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।–ई. प्र. का. 4.1.16
13. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी। –शि. दृ. 3.2
14. शि. दृ., 5.1/5, 5.98/104-110 और भी देखिए, डॉक्ट्रिन, पृ. 103 और आगे।
15. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्वपुः। अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः।–शि. दृ., 1.2
16. वस्तुता चेत्तथाभूतशक्तित्रितयसंगमः॥–शि. दृ. 3.56
17. तस्मादवस्थितं एवं सत्त्वं चिद्व्यक्तियोगिता।–वही, 4.29 और भी देखिए वृत्ति, भूमिका, पृ. 15-16
18. श्रीदेवीपंचदशिकेऽपि अस्य श्रीसोमानन्दभट्टपादेभ्यः प्रभृति त्रिकदर्शनवदेव गुरवः।–तं. वि., 3, पृ. 194, देखिए क्र. ता., पृ. 128-29
19. प्रसिद्ध दार्शनिक कालिदास भट्टाचार्य ने इस दिशा में बहुत अच्छा कार्य किया है। देखिए Gpinath Kaviraj's Thoughts – Towards a Systematic Study.
20. स्वभावमवभास्य विमर्शं विदुरन्यथा। ई. प्र. का. 1.5.11
21. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता। –वही, 1.5.13
22. समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि। –ई. प्र. का. 1.1.1
23. ननु विमर्शाभावात् जडः स्यादिति वक्तव्ये 'चमत्कृतेरभावात्' इति कथं वृत्ति। ई. प्र. वि., 2, भृ. पृ. 177, अप्यस्य स्वच्छतामात्रं न त्वजाड्यं चमत्कृतेरभावात्। ई. प्र. का. वृ., पृ. 22
24. प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः। अ. प्र. सि. 22

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

25. तुलना कीजिए : अहंमृश्यतयैवास्य सृष्टेः तिङ्वाच्यकर्मवत्। ई. प्र. का., 1.5.17
26. देखिए क्र. ता., 1, पृ. 169 और भी दे. Stanzas, पृ. 58
27. 'हृदय' का एक अर्थ शक्तिसूत्र भी किया गया है। यह विचित्र बात है कि जयरथ तंत्रालोक के आदि मंगल श्लोक की वैकल्पिक व्याख्या में ठेठ क्रमदर्शनपरक शब्दावली का प्रयोग करते हैं।
28. देखिए 'The Mythical-Ritual Syntax of Omnipotence' David P. Lawrence, पृ. 1 (अप्रकाशित लेख)
29. अनुत्तरानन्यसाक्षिपुमर्थौपायमभ्यधात्। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाख्यं यः शास्त्रं यत्सुनिर्मलम्॥ ई. प्र. वि., मंगलश्लोक 3
30. श्रीत्रैयम्बकसद्वंशमध्यमुक्तामयस्थितेः। श्री सोमानन्दनाथस्य विज्ञानप्रतिबिम्बकम्॥–वही, पृ. 2
31. महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा। ई. प्र. का., 4.1.16
32. विज्ञानम् इत्यनेन ज्ञानोपदेशमात्रस्य सम्प्रदायागतत्वं सूचितम्। ... रहस्योपदेशस्य संप्रदायापेक्षा वर्तत एव।–भास्करी, 1, पृ. 9
33. कथंचिदासाद्य ... तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि। – ई. प्र. का. 1.1.1
34. ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता॥–वही, 4.1.18
35. ग्रन्थकार ... परमेश्वरतन्मयतां परत्र संचिक्रमयिषु। –ई. प्र. वि., 1, पृ. 17
36. प्रत्यभिज्ञायते अनया इति करणव्युत्पत्त्या उपायः ... 'मार्गो नव' इति शास्त्रान्ते निरूपयिष्यमाणं सूचयता उपायः दर्शितः अभिधेयत्वेन।–वही, पृ. 40-41
37. ई. प्र. वि. वि., 1 पृ. 37, ई. प्र. का. 2.3.17 पर अपनी विवृतिविमर्शिनी में अभिनवगुप्त इस पर गहन विचार करते हैं : क्रिया च करणस्वरूपविवेचनद्वारेण वाच्येति प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणस्य शास्त्रस्य अभिधेयम्, लक्षणीयत्वेन इति तत्प्रतिपादनं प्रयोजनं प्रमाणस्वरूपप्रतिपत्तिः, तस्याः फलं व्यापारणम्, तस्य फलं प्रत्यभिज्ञोदयः, ततः पर्यन्तफलम् अपर्यनुयोज्य फलान्तरं पूर्णानन्दानन्तशक्तिपरमेश्वररूपतोन्मेष इति तात्पर्यम्। –ई. प्र. वि. वि., 3, पृ. 173
38. काश्मीर ग्रन्थावली में प्रकाशित वृत्ति अपूर्ण थी। हमारे सौभाग्य से इटैलियन विद्वान् रफेल टोरेला ने बड़े श्रम से पूरी वृत्ति को प्रकाशित कर दिया है। दुर्योग से 5 श्लोकों को छोड़कर विवृति अनुपलब्ध है। परन्तु हम अभिनवगुप्त के ऋणी हैं जिन्होंने अपनी विवृतिविमर्शिनी में उत्पल तक पहुँचने के प्रभूत संकेत छोड़े हैं।
39. सूत्रे स्फुरद्हृदया, वृत्तौ स्फुरितसारा, विवृतौ तु व्यक्ता सर्वजनगोचरतां गता। –ई. प्र. वि. वि., 1, पृ. 16
40. सूत्रं वृत्तिर्विवृतिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ। प्रकरणविवरणपञ्चकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः॥–सर्वदर्शनसंग्रह, सं. काशीनाथ वासुदेव अभ्यङ्कर, पूना, 1951, पृ. 181
41. नैयायिकक्रमस्यैव मायापदे पारमार्थिकत्वम्। –इति ग्रन्थाकाराभिप्रायः। ई. प्र. वि., 1, पृ. 43
42. एवं प्रत्यभिज्ञातव्यसमस्तवस्तुसंग्रहणेन इदं वाक्यमुद्देशरूपं प्रतिज्ञापिण्डात्मकं च, मध्यग्रन्थस्तु हेत्वादिनिरूपकः ... अन्त्यश्लोको निगमनग्रन्थःइत्येवं पञ्चचायवात्मकमिदं शास्त्रं परव्युत्पत्तिफलम्। –वही।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

43. बहुव्रीहिणा तु उपाय: सूच्यते। समस्तस्य भावाभावरूपस्य बाह्याभ्यन्तरस्य नीलसुखादे: या सम्पत् संपत्ति: सिद्धि: तथात्वप्रकाश: तस्या: सम्यगवाप्ति विमर्शरूढि: सैव हेतु: यस्यां तत्प्रत्यभिज्ञायाम् तथाहि स्फुटतरभासमाननीलसुखादिप्रमान्वेषणद्वारेणैव पारमार्थिकप्रमातृलाभ इह उपदिश्यते।–वही, पृ. 34-35
44. किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते। शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते॥ –ई. प्र. का., 1.1.2
45. अप्रवर्तितपूर्वोऽत्रकेवलं मूढ़तावशात्। शक्तिप्रकाशेनेशादिव्यवहार: प्रवर्त्यते॥– वही, 2.3.17
46. ई. प्र. वि., 1, पृ. 68 भास्करी भी देखिए।
47. वही, 2, पृ. 144-147
48. यस्य तु व्यवहारसाधने हेतुकलापेऽपि असिद्धताभिमान:, तस्य तत्रापि व्यवहारसाधनैरेव व्यामोहोऽपसार्य:। ई. प्र. वि. वि., पृ. 147-148
49. ई. प्र. वि. वि., 3, पृ. 179। इस कथन के प्रति टोरेला उत्पल की वृत्ति (2.3.17) पर अपनी टिप्पणी में ध्यान आकर्षित करते हैं। पृ. 174
50. पंचावयवी अनुमान के लिए न्याय के ऋणी होने पर भी हेतु की परिकल्पना में वे बौद्धन्याय को स्वीकार करते हैं।
51. स्वशक्त्याविष्करणेन निश्चयप्रदर्शनमिति लोके दृष्टम्, इति स्वभावहेतु:। –ई. प्र. वि. वि., 1, पृ. 79, यत एव ज्ञानस्यैव क्रिया पुच्छभूता, ज्ञानं च प्रमातुरपृथग्भूतं संवेद्यभेदात्कल्पितभेदम्, तत एव स्वभावहेतुरयं वस्तुत:, न कार्यहेतु:। स्वभावहेतुश्च सर्वो मोहवशादारोपितापारमार्थिकरूपान्तरपराकरणमात्रपर्यवसित ... इति वास्तवं स्वप्रकाशत्वं ज्ञानस्य प्रमातुस्तदैश्वर्यस्य च मौलिकं न विघटते इति अत्र ग्रन्थकारस्य आशय:। –वही, पृ. 105-106
52. अतस्तद्व्यवहारमात्रमपि नेह साध्यते अपितु उपांशुच्छन्नं स्थितं सत्, उप समीपे इति हृदयसंगमनेन प्रधानतया दर्श्यते।–वही, पृ. 87
53. वक्ष्यमाणशास्त्रस्य सा प्रत्यभिज्ञैव ज्ञानक्रियाशक्तिरूपा अर्थोऽभिधेय:।–वही, पृ. 87
54. मायाव्यामोहाद् अहृदयङ्गमत्वाद् ... दृढ़निश्चयरूपं प्रत्यभिज्ञानम् उपदर्श्यते। वृत्ति, पृ. 3 अभिनव बृहती-विमर्शिनी में इसे दुहराते हैं : तस्य या प्रत्यभिज्ञा करणभावसाधनत्वेन आविष्क्रियमाणा शक्तिस्तत्कृतश्च दृढ़निश्चय:।–ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 87
55. विशेष विस्तार के लिए देखिए **Argument.** पृ. 76 और आगे।
56. सोऽनेन इच्छादिशक्तिप्रभावप्रख्यापकेन पूर्णपरार्थानुमानरूपेण व्यवहारसाधनेन प्रत्यभिज्ञाख्येन शास्त्रेण अवबोध्यते। –ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 181
57. 'व्यवहार' शब्द में प्रतिदिन का सत्य और उसका शब्द से अभिधान (व्याहार) दोनों गर्भित होते हैं। टोरेला ने यह प्रदर्शित किया है कि तिब्बती और पालि दोनों भाषाओं में ये दोनों शब्द- 'व्यवहार' और 'व्याहार'–एक ही शब्द से अनूदित होते हैं। वृत्ति, पृ. 174
58. इतिज्ञानचतुष्कं यत्सिद्धिमुक्तिमहोदयम्। तन्मया तन्त्यते तन्त्रालोकनाम्न्यत्र शासने॥ – तं. 1.245
59. बौद्धज्ञानेन तु यदा बौद्धमज्ञानजृम्भितम्। विलीयते तदा जीवन्मुक्ति: करतले स्थिता॥ तं. 1.44

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

60. वही, 1.47
61. डेविड लॉरेन्स इसे शाक्तोपाय से, टोरेला शांभवोपाय से जोड़ते हैं। लारेन्स ने मुझे प्रमाणरूप में उद्धृत किया है कि मैं भी इसे शाक्तोपाय से एकरूप मानता हूँ। यह बात अंशतः सही है। वस्तुस्थिति के लिए कृपया आगे देखें।
62. विकल्पहानेनैकाग्र्याद् क्रमेणेश्वरतापदम्। – ई.प्र.का. 4.1.11
63. सर्वो ममायं विभवः इत्येवं परिजानतः। विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता। –वही, 4.1.12
64. विकल्पं अकिंचिच्चिन्तकत्वेन प्रशमयन् ... 'विकल्पहानेनैकाग्र्यात् क्रमेणेश्वरतापदम्' इतिश्री प्रत्यभिज्ञायाम्। अयं च उपायो मूर्धन्यत्वात् प्रत्यभिज्ञायां प्रतिपादितत्वात् आदौ उक्तः। –प्र. हृ. 40-41, विज्ञानभैरव 95-96 पर विवृति भी द्रष्टव्य। क्षेमराज का विवेचन मालिनी विजयोत्तर 2.21 की शब्दावली को प्रतिध्वनित करता है। यहां यह देखने की बात है कि क्षेमराज के अनुसार इस बात को लेकर प्रत्यभिज्ञा और स्पन्द की स्थिति एक है। यदि ऐसा है तो कविराज जी की मान्यता, कि प्रत्यभिज्ञा-स्पन्द का युग्म काश्मीर शैवमत है, को बल मिलता है।
65. तदा तत्क्षणमेव पूर्णतात्मिका जीवन्मुक्तिः। ई. प्र. वि., 1, पृ. 315
66. इत एव प्रभृत्येषा जीवन्मुक्तिर्विचार्यते। यत्र सूत्रणयापीयमुपायोपेयकल्पना॥ तं. 3.272
67. वृत्ति, भूमिका, पृ. 38
68. प्रत्यभिज्ञायते यया ... ज्ञानोपायभूतया ... ईश्वरव्यवहारसाधनप्रमाणपद्धत्या। ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 16
69. अनुपायं हि यद्रूपं कोऽर्थो देशनयात्र वै। सकृत्स्याद्देशना पश्चादनुपायत्वमुच्यते। तं. 2.2
70. अनुत्तरपथे रूढ़ास्तेभ्युपायानियन्त्रिताः।–वही, 2.34
71. गुरोर्वाक्याद्युक्तिप्रचयरचनोन्मार्जनवशात् समाश्वासाच्छास्त्रं प्रति समुदिताद्वाऽपि कथितात्। –वही, 2.49
72. श्रीमदूर्मिमहाशास्त्रे सिद्धसन्तानरूपके। इदमुक्तं तथा श्रीमत्सोमानन्दादिदेशिकेः। –वही, 2.48
73. सकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावना करणं व्रजेत्। एकबारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः॥ ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढ़ात्मना। करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा॥
74. यथोक्त परमेष्ठिपादै ... । – ई. प्र. वि., 2, पृ. 311. अभिनव यहां पर श. दृ. 7.82 की भी एक पंक्ति उद्धृत करते हैं।
75. सर्वभावग्रहणतायोग्यत्वाद्वा क्रमस्थितेः। प्रत्यक्षाद्यैरूपायतयाऽपिवा॥ शि. दृ. 5.103
76. ई. प्र. का. 3.2.19-20
77. तीव्रतम शक्तिपातादौ पुनरनुपायादिक्रमेण दीक्षा भवेत्, येनास्य तत्कालमेवापवर्गः। तदुक्तं 'तत्सम्बन्धात्ततः कश्चित् क्षणाद् अपवृज्यते।'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शास्त्रस्वरूपविषयक सिद्धान्त एवं तर्कशास्त्र के विकास की दिशायें *

विश्वम्भर पाहि

तर्कशास्त्र की दो स्वतन्त्र धारायें–एक प्राच्य या भारतीय एवं अपर प्रतीच्य या यवन-देशीय, प्राचीनकाल से निरन्तर प्रवाहित हैं। इन दोनों धाराओं का बाह्याकारनिष्ठ वैसादृश्य तर्कशास्त्र की नैसर्गिक एकरूपता का आवरण बनकर खड़ा हुआ है। वस्तुतः जिस वैचारिक परम्परा में तर्कशास्त्र का उद्गम होता है उस परम्परा का शास्त्रस्वरूपविषयक सिद्धान्त ही तर्कशास्त्र के विकास की दिशाओं को निरूपित करता है। यथार्थ निगमनात्मक अनुमान का स्वरूप-निरूपण एवं व्यवस्थित अध्ययन ही तर्कशास्त्र की प्रतीच्य धारा के मुख्य शास्त्रीय लक्ष्य रहे हैं। इस प्रतीच्य धारा का प्रभव एक निगमनकेन्द्रित शास्त्र के रूप में ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी के मध्य भाग में यवनदेशीय वैचारिक परम्परा के अद्वितीय मनीषी आचार्य अरस्तू के सुदीर्घ निरन्तर अनुसन्धान से सम्भव हुआ था। प्रतीच्य तर्कशास्त्र की यह जन्मजात निगमनकेन्द्रितता उसके इतिहास के प्रत्येक सोपान में वंशानुगत स्वरूपलक्षण के रूप में विद्यमान रही है। प्राच्य या भारतीय धारा के तर्कशास्त्र का उद्भव प्रमाणमीमांसा की एक प्रमुख शाखा के रूप में हुआ है। कुछ वैदिक यज्ञानुष्ठान के अन्तर्गत प्रश्नोत्तरमूलक ब्रह्मोदय नामक संवाद के रूप में प्रारम्भ हुआ। उसी से पूर्वपक्ष के खण्डन तथा उत्तर पक्ष या सिद्धान्त पक्ष की स्थापनारूपी **वाकोवाक्य** नामक शास्त्र का प्रारम्भ हुआ जिसने परवर्ती काल में तर्कशास्त्र नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। भारतीय धारा का तर्कशास्त्र अनुमानप्रमाणपरक अवश्य रहा है, परन्तु वस्तुतः अनुमान-प्रमाण के प्राणदायक तत्त्व व्याप्ति-सम्बन्ध के स्वरूप-निरूपण की समस्या ही इस धारा के तर्कशास्त्र के लिए प्रमुख वैचारिक चुनौती के रूप में सहस्रों वर्षों विद्यमान रही है। अतः भारतीय तर्कशास्त्र मुख्यतया व्याप्ति-केन्द्रित रहा है। प्राच्य तर्कशास्त्र का प्राच्य एवं प्रतीच्य धाराओं के विकास की दिशाओं की भिन्नता के कारणों का अन्वेषण करना ही प्रस्तुत अध्याय का लक्ष्य है। यह सिद्ध करना प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रमुख लक्ष्य है कि विकास की दिशायें भिन्न-भिन्न रहने पर भी प्राच्य एवं प्रतीच्य धाराओं के तर्कशास्त्रों के आधारभूत स्वरूप वस्तुतः एक ही हैं। आशा है उपर्युक्त तथ्य के अनावरण में प्रस्तुत अध्याय का अनुशीलन उपयोगी सिद्ध होगा।

1.1 वैचारिक परम्परा एवं शास्त्र-स्वरूप विषयक विमर्श

मानव-इतिहास में केवल कतिपय सभ्यताओं को ही वैचारिक परम्परा की प्रसव-वेदना सहन करने एवं उस परम्परा के परिपोषण के उत्तरदायित्व का निर्वाह करने का वैशिष्ट्य प्राप्त है। प्राचीन यूनान एवं भारतीय सभ्यताओं को निर्विवाद रूप से इस विशिष्ट कोटि की सभ्यताओं में परिगणित किया जा सकता है। इन दोनों सभ्यताओं ने मानव के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जगत् एवं आत्मविषयक अनुभव पर मनन कर उसे एक व्यवस्था देने का उपक्रम किया। अनुभव को व्यवस्थित रूप प्रदान करने की प्रक्रिया विषयकेन्द्रितता की अपेक्षा रखती है क्योंकि अन्यथा अनुभव के अनन्त गगन में विचार-प्रक्रिया को पदस्थापन के लिए भूमि उपलब्ध नहीं हो पाती है। वैचारिक परम्परा में शास्त्र-निर्माण के विषय-क्षेत्रों का चयन वस्तुतः उस परम्परा की परिपोषक संस्कृति के प्रयोजन एवं आधारभूत सर्वग्राही दृष्टि के पुरुषार्थ के द्वारा नियन्त्रित होता है। उदाहरण के लिए वैदिक ऋषियों की सर्वग्राही दृष्टि भारतीय सभ्यता की एकरूपता की आधारभूमि रही है। वैदिक कर्मकाण्डान्तर्गत यज्ञानुष्ठान में संहिता भाग के मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण, सामगान, अर्थबोध एवं कालज्ञान आदि अपेक्षित हैं। अतः वेद के संरक्षण एवं यज्ञानुष्ठान-संस्था को सुरक्षित रखने के लिए शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस, कल्प एवं ज्योतिष रूपी वेद के अङ्गभूत इन छः शास्त्रों का उदय हुआ। उनमें से व्याकरण प्रमुख है।[1] होमर एवं हेसिओड की कृतियों में उपलब्ध सर्वग्राही दृष्टि यूनानी सभ्यता की आधारभूमि थी। यूनानी वैचारिक परम्परा में जगत् के सृष्टिविषयक एवं मूल उपादान तत्त्व के अन्वेषण के साथ-साथ मिश्रदेशीय स्रोत से प्राप्त गणितीय ज्ञान के आधार पर रेखागणितशास्त्र का प्रारम्भ हुआ था।

विविध शास्त्रों की उत्पत्ति वैचारिक परम्परा की परिपोषक संस्कृति के प्रयोजनानुसार कालक्रम में शनैः शनैः होती है। उनका उद्गम गगनभेदी मेघनिनाद के साथ न होकर वसन्त ऋतु के प्रारम्भ में मलयवात के शुभागमन जैसा होता है। नदियों के प्रभव सदृश शास्त्रों के प्रभव भी दुर्ज्ञेय होते हैं।[2]

व्यवस्थित विचार-प्रक्रिया की प्रगति सिद्धान्त-प्रतिपादन की अपेक्षा रखती है। अन्वेषण के क्षेत्र में एक पीढ़ी के विचारक पूर्ववर्ती पीढ़ी के विचारकों के स्कन्धारूढ़ होकर ही आगे का मार्ग देख पाते हैं। परम्परया आगत ज्ञान की वृद्धि सिद्धान्त-स्थापना-प्रक्रिया के बिना सम्भव नहीं हो पाती है। यह प्रक्रिया प्रारम्भिककालीन अन्वेषणों में केवल अन्तर्बोधगम्य ही रहती है। इसके बिना शास्त्रविकास संभव नहीं हो सकता। सिद्धान्त-प्रतिपादन के द्वारा ही शास्त्रकार स्वीय ज्ञानमीमांसीय उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकता है, अन्यथा प्रामाणिक वाक्य एवं प्रवंचक वाक्य का अन्तर विलुप्त होने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। वैचारिक परम्परा का विकास प्रमाणमीमांसा के बिना सम्भव नहीं हो सकता। प्रमाणविषयक व्यवस्थित विवेचन विचार-परम्परा की आत्म-चेतनता का सूचक होता है।

भाषा की पदव्युत्पत्ति तथा वाक्य-विन्यास मननशील व्यक्तियों की चेतना के विषयरूप में तब भासित होते हैं जब वह भाषा प्रौढ़ता का एक विशेष स्तर प्राप्त कर लेती है, उससे पूर्व नहीं। अनुव्यवसाय के लिए व्यवसाय अपेक्षित है। विषयोन्मुखी चेतना के बिना आत्मचेतना सम्भव नहीं होती है। मानव-चेतना जगत् से प्रतिहत होकर प्रत्यावर्तित होने पर ही स्वयं को विषय के रूप में ग्रहण करने में समर्थ होती है। मननविषयक मनन द्वितीय स्तर का मनन होने के कारण स्वभावतः जगत् विषयक मनन के बिना सम्भव नहीं होता है। इसी प्रकार शास्त्रस्वरूपविषयक विचार के उदय के लिए शास्त्र-निर्माण में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पारङ्गतता अपेक्षित है। वैचारिक परम्परा की प्रबुद्ध आत्मचेतना ही उसे शास्त्रस्वरूपविषयक विचार के लिए प्रेरित करती है।

भारतीय वैचारिक परम्परा में शिक्षा एवं व्याकरण शास्त्रों में शास्त्रनिर्माणपद्धति तथा शास्त्र के मूल्यांकन विषयक समस्याओं का विचार ईसापूर्व पंचम शताब्दी में ही अपरिहार्य हो गया था। पाणिनि के **अष्टाध्यायी** ग्रन्थ में व्याकरण-निर्माण-पद्धति तथा व्याकरण के दोषगुण-निरूपण की विचारव्यवस्था अन्तर्निहित हैं। कात्यायन की वार्त्तिकों एवं पतञ्जलि के **महाभाष्य** में व्याकरणशास्त्र का स्वरूपविषयक व्यवस्थित विचार प्रारम्भ हुआ था। अक्षपाद गौतम ने **न्यायसूत्र** में शास्त्रनिर्माणपद्धति एवं मूल्यांकन विषयक एक सार्वभौमिक प्रारूप का प्रयोग ई.पू. द्वितीय शताब्दी में किया। इस प्रारूप के सैद्धान्तिक पक्षों का विचार गौतम के अनुयायियों ने किया है। यूनानी वैचारिक परम्परा में शास्त्रस्वरूपविषयक विचारों को प्लेटो की कृतियों में प्रमुख स्थान प्राप्त है। प्लेटो के इन विचारों को उनके वैचारिक उत्तराधिकारी अरस्तू ने विकसित करते हुए व्यवस्थित तथा प्रामाणिक रूप प्रदान किया था।

1.2 प्लेटो एवं अरस्तु का शास्त्रस्वरूपविषयक सिद्धान्त एवं पाश्चात्य तर्कशास्त्र की निगमनकेन्द्रितता

प्लेटो की पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिक परम्परा में सत् के स्वरूपविषयक दो परस्पर विरोधी विचारधारायें परिलक्षित होती हैं–एक हेराक्लिटीय धारा एवं अपर पार्मिनिडीय धारा। प्रथम विचारधारा के अनुसार सत् निरन्तर प्रवहमान नदी की जल-धारा के सदृश है। प्लेटो इस प्रवाहवाद को अति प्राचीन मत के रूप में प्रस्तुत करते हैं एवं इसके समर्थकों में हेराक्लिटस के अतिरिक्त होमर एवं प्रोटागोरास को भी परिगणित करते हैं (थियेटेटस 160 डी)। इसके विपरीत द्वितीय धारा के विचारकों के अनुसार सत् शाश्वत, अविनश्वर एवं एक है, इन्द्रियग्राह्य नानात्व तथा परिवर्तनशीलता मात्र प्रातिभासिक है एवं सत् तत्त्व उससे एकान्त रूप में अस्पृष्ट रहता है। प्लेटो के अनुसार मेलिसस् एवं पार्मिनीडीज़ इस तत्त्वमीमांसीय धारा के मुख्य विचारक हैं (थियेटेटस, 180 डी, ई)। सत् की प्रवाहरूपता एवं एकत्व तथा अविनश्वरत्व विषयक समस्या के साथ-साथ यमज समस्या के रूप में सम्यक् ज्ञान (एपिस्टेमे) एवं मात्र अर्थक्रियासामर्थ्ययुक्त तद्वतितत्प्रकारक रूपी यथार्थ ज्ञान (डोक्सा) के भेद-निरूपण विषयक समस्या भी उन्हें परम्परया प्राप्त हुई थी। उनके दार्शनिक विचारों का विकास उपर्युक्त परम्परया प्राप्त समस्यायुगलों के समुचित समाधान के लिए उनके निरन्तर प्रयास को ध्यान में रखने पर ही बोधगम्य होता है।

प्लेटो एवं अरस्तु के मत में प्रत्येक शास्त्र अनुभव एवं विचारों के आधार पर स्वीय विषयक्षेत्रगत नित्य सामान्यरूपी तथ्यों के अनावरण, लक्षण एवं विभागद्वारेण उनके स्वरूप-निरूपण तथा उनके मध्य विद्यमान अपरिहार्य नित्य सम्बन्धों के निरूपण के प्रयोजन से प्रेरित एवं अनुप्राणित होता है। सम्यक् ज्ञान का विषय आगन्तुक, अनित्य प्रवाहस्वरूप नहीं हो सकता। प्लेटो के थियेटेटस नामक संवाद में सम्यक् ज्ञान का स्वरूप-निरूपण ही लक्षित है, यद्यपि वहां इस लक्ष्यसिद्धि की दिशा में प्रगति निषेध-मुख से सम्भव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हुई है। किन्तु यह संवाद मुख्यतया प्रोटागोरीय ज्ञानमीमांसीय सापेक्षतावाद के खंडन को ही लक्षित करता है। तद्वतितत्प्रकारक ज्ञान रूपी अर्थक्रियासमर्थ मात्र ज्ञान को भी सम्यक् ज्ञान की कोटि में स्थान प्राप्त करने के योग्य नहीं पाया गया (थियेटेटस 187बी, 201 सी, डी)। तद्वतितत्प्रकारक ज्ञान लोकव्यवहार की दृष्टि से अर्थक्रियाकारित्व के कारण पर्याप्त होने पर भी प्रमाता के चित्त में अव्यवस्थित होने से दृढ़ संस्कार के साथ अविचलित होकर नहीं रह पाता है। जिस प्रकार नदी-तीर पर नौका तटवर्ती वृक्षादि के साथ दृढ़ रज्जु द्वारा सुबद्ध न रहने पर नदी-स्रोत में चली जाती है उसी प्रकार अर्थक्रिया समर्थ तद्वतितत्प्रकारकत्व विशिष्ट ज्ञान उपपत्तियों के द्वारा अन्य सम्यक् ज्ञानों में प्रतिष्ठित न होने पर सम्यग्ज्ञान की कोटि में स्थान प्राप्त करने के योग्य नहीं होता है (मेनो, 98 ए) अत: प्लेटो के अनुसार सुप्रतिष्ठित अर्थक्रियासमर्थ तद्वतितत्प्रकारक ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। परम्परया प्राप्त सम्यक् ज्ञान एवं सत्यविश्वासविषयक समस्या का प्लेटो का यह प्रस्तावित समाधान यूनानी परम्परा की दृष्टि से दूरदर्शितापूर्ण होने पर भी वस्तुत: असम्पूर्ण है। उनके द्वारा प्रस्तावित इस समाधान की असम्पूर्णता का विश्लेषण करने के पहले इस समाधान के स्रोत को जानना आवश्यक है।

प्रतीच्य परम्परा के अंकगणित, बीजगणित एवं रेखागणित शास्त्रों का सूत्रपात मध्य एशिया की बेबीलोनीय एवं मिश्रदेशीय सभ्यताओं ने किया था। थेल्स के काल में इन शास्त्रों का प्रसार यूनानी परम्परा में हुआ था। गणितीय तथ्यों का अनावरण अनुभव-निस्सृत सामान्य लक्षण रूपी प्रत्यक्ष तथा तर्क के द्वारा सम्भव होता है। गणितीय तथ्याभिलापक अभिकथनों के गम्य-गमकभावसम्बन्ध के आधार पर ही बीजगणितीय तथ्यों का अनावरण सम्भव होता है। इस गम्य-गमक-भाव विषयक चेतना के बिना गणितशास्त्र के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती है। बेबीलोनीय एवं मिश्रदेशीय गणितीय परम्परा में यह चेतना अन्तर्बोध के स्तर पर अर्धस्फुट कलिकावस्था में विद्यमान थी। उन परम्पराओं में यह चेतना गणितीय तथ्यों के अनावरण पर केन्द्रित रही थी न कि परार्थानुमान के द्वारा उनके प्रतिपादन पर। यूनानी परम्परा के गणितशास्त्र ने गणितीय तथ्यों के अनावरण के साथ-साथ तथ्यों के प्रतिपादन पर ध्यान केन्द्रित किया। उस परम्परा में गणितशास्त्र की प्रतिपादन-केन्द्रितता रेखागणितीय तत्त्वों के बीच घटक-घटित-सम्बन्ध तथा रेखागणितीय प्रतिपाद्यों के बीच गम्य-गमक सम्बन्धों की सूक्ष्म विश्लेषण-प्रक्रिया से सम्भव हुई थी। फलत: शनै: शनै: यूनानी परम्परा में रेखागणितीय ज्ञान को निगमनात्मक रूप में व्यवस्थित करने की प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ। इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में पायथागोरीय सम्प्रदाय का अवदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा था।

प्लेटो के द्वारा संस्थापित **अध्ययन एवं अनुसंधान-केन्द्र** में गणितशास्त्र को जो महत्त्व प्राप्त था वह सर्वविदित है। थेलेस के काल से प्लेटो तक मात्र अर्धशताब्दी की कालावधि में रेखागणितीय ज्ञान को निगमनात्मक रूप में व्यवस्थित करने की प्रक्रिया ने आश्चर्यजनक प्रगति प्राप्त कर ली थी। अनुभवसिद्ध रेखागणितीय सत्यों को अपेक्षाकृत अधिक आधारभूत सत्यों में प्रतिष्ठित करने तथा अन्ततोगत्वा स्वयंसिद्ध आधारभूत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सिद्धान्तों में प्रतिष्ठित करने की इस प्रक्रिया का सार्वभौमिक ज्ञानमीमांसीय महत्त्व प्लेटो अवश्य पहचानते थे। उनके लिए क्षेत्र विशेष में सीमित सभी वैचारिक शास्त्र अपराविद्या की कोटि में आते हैं एवं इन शास्त्रों के लिए रेखागणितीय ज्ञान को निगमनात्मक रूप में व्यवस्थित करने की प्रक्रिया अवश्य एक आदर्श प्रारूप प्रस्तुत करती है। अत: यह निस्सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि उनके संवाद **मेनो** में अभिव्यक्त सम्यक् ज्ञान विषयक मत रेखागणित में अपनायी गयी निगमनात्मक पद्धति के द्वारा अनुप्राणित था। सम्यक् ज्ञानों में सुदृढ़ रूप में प्रतिष्ठित अर्थक्रियासमर्थ तद्वतितत्प्रकारक ज्ञान, अर्थात् सत्य-विश्वास ही सम्यग्ज्ञान है। एक खाती भी यह जानता है कि जिस चतुर्भुज क्षेत्र की विपरीत भुजायें समान लम्बाई की होती हैं उस चतुर्भुज क्षेत्र के चारों कोण तभी समकोण के बराबर होते हैं जब चतुर्भुज की अन्य दो भुजायें भी समान लम्बाई की होती हैं। प्लेटो के मत में खाती का यह ज्ञान तथ्यपरक एवं अर्थक्रियाकारी होने पर भी सम्यग्ज्ञान कोटि का नहीं है। केवल वही व्यक्ति इस तथ्यविषयक सम्यग्ज्ञान का अधिकारी होता है जो इस तथ्याभिलापक वाक्य को रेखागणितीय आधारभूत स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों से निगमित करने में समर्थ हो।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट है कि प्लेटो के मत में शास्त्रविशेष के तद्वतितत्-प्रकारक रूप अर्थक्रिया-समर्थ ज्ञान को प्रतिष्ठित करने का अर्थ है उस ज्ञान के अभिलापक वाक्य को उस शास्त्र विशेष की अपेक्षा से अप्रतिपाद्य सिद्धान्तों से निगमित करना। अत: प्लेटो के सम्यक् ज्ञान (एपिस्टेमे) के तथा उनके मतानुसार अपराविद्यान्तर्गत शास्त्र के सम्प्रत्ययों के परिष्कृत लक्षणों में निगमनीयता सम्बन्ध आवश्यक है। इसलिए उनके द्वारा परम्परया प्राप्त सम्यक् ज्ञान एवं अर्थक्रियाकारी ज्ञान की समस्या के समाधान के रूप में उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया सम्यग्ज्ञानविषयक सम्प्रत्यय एक अपूर्ण समाधान मात्र है। परन्तु यूनानी दार्शनिक परम्परा की उपर्युक्त समस्या के समाधान ने उनके सम्यग्ज्ञान विषयक अंतर्बोध की एक ऐतिहासिक भूमिका निभायी है, क्योंकि उनका सम्यग्ज्ञानविषयक अन्तर्बोध अरस्तु के लिए दिग्दर्शक बना है।

अरस्तु के **पोस्टिरियर एनालिटिक्** ग्रन्थ में सम्यक् ज्ञान एवं शास्त्रस्वरूपविषयक सिद्धान्त को वस्तुत: प्लेटो द्वारा **थियेटेटस** में उपस्थापित सम्यग्ज्ञान के स्वरूप विषयक समस्या के एक व्यवस्थित समाधान के रूप में देखा जा सकता है।[3] अरस्तु के मत में सम्यग्ज्ञान व्यक्तिविषयक नहीं होता है, अपितु सामान्य या जातिविषयक, अपरिहार्य, अनागन्तुक तथा निगमनात्मक सिद्धि-प्रक्रिया से निष्कर्ष के रूप में प्राप्त होता है। उनके मत में, सम्यक् ज्ञान मात्र ही स्वयंसिद्ध, आधारभूत सिद्धान्तों से निगमनीय होता है, क्योंकि वह बौद्धिकता के स्वरूपग्रहण में समर्थ होता है।[4] जिन आधारभूत सिद्धान्तों से सम्यग्ज्ञानाभि-लापक वाक्य निगमित होते हैं वे स्वयं निगमनात्मक अनुमान के निष्कर्ष के रूप में प्राप्त नहीं किये जा सकते। उनके मत में स्वयंसिद्ध आधारभूत सिद्धान्तों की यथार्थता केवल अन्तर्बोधात्मक बुद्धि (इन्ट्यूटिव रीज़न) द्वारा ग्रहण की जा सकती है।[5]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अरस्तु निगमन एवं उपपत्ति (डिमांस्ट्रेशन) में अन्तर करते हैं। उपपत्ति स्वरूपतः निगमनात्मक होने पर भी सभी निगमनात्मक अनुमान उपपत्त्यात्मक नहीं होते। उपपादन में सिद्ध निष्कर्ष आधारभूत स्वयंसिद्ध ज्ञान की अपेक्षा रखता है। आधारभूत ज्ञान साक्षदुत्पन्न, पूर्वज्ञात तथा उपपादित निष्कर्ष की उपपन्नता सिद्ध करने में समर्थ होता है।

अरस्तु के शास्त्रस्वरूपविषयक सिद्धान्त के अनेक पक्ष हैं जिन पर विचार इस अध्याय के लक्ष्य की दृष्टि से अनावश्यक है। हमारे लिए महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्लेटो एवं अरस्तु के सम्यग्ज्ञानविषयक सिद्धान्त तथा अरस्तु का शास्त्रस्वरूपविषयक सिद्धान्त निगमनीयता-सम्बन्ध के परिष्कृत लक्षण की अपेक्षा रखते हैं। अतः अरस्तु के लिए निगमनीयता सम्बन्ध का स्वरूप-निरूपण करना वैचारिक दृष्टि से अपरिहार्य था। इस चुनौती का सामना उन्होंने अपने **द इन्टर्प्रिटेशन** एवं **प्रायर एनालिटिक्स** नामक ग्रन्थों में किया है। अरस्तु के तर्कशास्त्रीय तन्त्र का विशद विवरण प्रस्तुत ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में दिया गया है। यहा इतना जानना ही पर्याप्त है कि सिलोजिज़्म नाम से प्रसिद्ध तर्कशास्त्रीय तन्त्र एक विशेष प्रकार के निगमनात्मक अनुमानों का परिष्कृत अध्ययन है तथा उन्होंने इस तन्त्र को निगमनात्मक रूप में व्यवस्थित किया है। उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट है कि अरस्तु के द्वारा निर्मित तर्कशास्त्र की निगमन-केन्द्रितता उनके सम्यग्ज्ञानविषयक सम्प्रत्यय एवं शास्त्रस्वरूपविषयक सिद्धान्त की वैचारिक आवश्यकता की दृष्टि से अपरिहार्य थी।

1.3 पाश्चात्य तर्कशास्त्र का विकास : एक विहङ्गम दृष्टि

दीर्घकालव्यापी निरन्तर अनुसन्धान एवं मनन के द्वारा तर्कशास्त्र का शिलान्यास अरस्तु को ही करना पड़ा था, क्योंकि उनके पूर्ववर्ती विचारकों के द्वारा यह क्षेत्र पूर्णतया उपेक्षित रहा था।[6] वाक्यों के प्रकार-भेद, उनके परस्पर विरोध तथा एक आधारवाक्य-विशिष्ट निगमनात्मक अनुमानादिविषयक विचार अरस्तु ने **टपिक्स** एवं **द इन्टर्प्रिटेशन** नामक ग्रन्थद्वय में प्रस्तुत किया है। सिलोजिस्टिक नाम से प्रसिद्ध वाक्याकृतिनिष्ठ औपचारिक निगमनात्मक अनुमान-सिद्धान्त को उन्होंने अपने ग्रन्थ **प्रायर एनालेटिक्स** में प्रस्तुत किया है। अरस्तु इस तथ्य से अवगत थे कि उनके निगमनात्मक अनुमान-तन्त्र की परिधि में सभी प्रकार के यथार्थ निगमनात्मक अनुमान गम्य-गमकभावापन्न विशुद्ध वाक्याकार रूपी प्रतिपाद्य के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। उनमें से कुछ विशिष्ट अनुमानों की स्वयंसिद्धता के आधार पर अन्य अनुमान सिद्ध किये गये हैं।

निगमनात्मक अनुमान की प्रामाणिकता (वैलीडिटी) इसी में निहित रहती है कि उसके आधार भाग के वाक्य सत्य रहने पर उसके निष्कर्ष भाग का वाक्य अनिवार्य रूप से सत्य होता है। प्रामाणिक निगमनात्मक अनुमान इस अर्थ में सत्यता का संरक्षण करता है कि यदि उसके आधारवाक्य सत्य हैं तो उसका निष्कर्षवाक्य भी अपरिहार्य रूप से सत्य रहता है। प्रामाणिक निगमनात्मक अनुमान सत्यता के सदृश अपरिहार्यता का भी संरक्षण करता है। अरस्तु के मत में शास्त्र-निर्माण में निगमनात्मक पद्धति की ज्ञानमीमांसीय उपादेयता वस्तुतः निगमनात्मक अनुमानों के द्वारा सत्यता तथा अपरिहार्यता के संरक्षण पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही आश्रित है। सिलेजिस्टिक तंत्रसिद्ध प्रामाणिक निगमनात्मक अनुमानाकारों के परस्पर सम्बन्ध-निरूपण के प्रसङ्ग में अरस्तु के द्वारा प्रयुक्त व्याघातारूढ़ प्रमाण-प्रक्रिया (रिडक्शो एड् एब्ज़र्डम), गम्य-गमक भाव के सञ्चरणशीलत्व (प्रिंसिपल ऑफ हाइपोथेटिकल सिलोजिज़्म) तथा गम्यनिषेधद्वारेण गमक निषेध (लॉ आफ कांट्रापोज़ीशन) आदि अनेक तर्कशास्त्रीय सिद्धान्त उनके तन्त्र की परिधि में नहीं आते हैं, यद्यपि लोकव्यवहार एवं गणितशास्त्रियों में उनकी निगमनात्मक भूमिका सर्वमान्य है। अविश्लेषित वाक्य-घटित इस प्रकार के अनुमानाकारों के व्यवस्थित अध्ययन की आवश्यकता का बोध उनके लिए आवश्यक था यद्यपि वे स्वयं इस क्षेत्र में अनुसन्धान नहीं कर पाये थे।

यूनानी परम्परा के ष्टोआ एवं मेगारा सम्प्रदाय के तर्कशास्त्रियों के द्वारा अनंतरकाल में इस आवश्यकता की पूर्ति की गयी थी। उनके प्रयास से आधुनिक पाश्चात्य तर्कशास्त्र : वाक्य-तर्क (प्रोपोज़ीशनल लॉजिक) नाम से परिचित तर्कशास्त्रीय शाखा का शिलान्यास हुआ था। इन तर्कशास्त्रियों के द्वारा वाक्य-तर्क के अनुमानाकारों को निगमनात्मक रूप में व्यवस्थित करने का भी प्रयास किया गया था। वाक्य-तर्क के अनुमानाकारों की निगमनात्मक यथार्थता यौगिक वाक्यों में प्रयुक्त वाक्य-योजकों की अर्थमीमांसीय भूमिका पर आश्रित रहती है। यथार्थ अनुगान का लक्षण अरस्तु के द्वारा दिये गये लक्षण के अनुरूप ही रहता है। इन दोनों सम्प्रदायों के द्वारा विकसित तर्कशास्त्रीय तन्त्र अरस्तु के तन्त्र के सदृश निगमन-केन्द्रित था। ष्टोआ सम्प्रदाय के तर्कशास्त्री डायडारस ने अपरिहार्यता एवं सम्भाव्यता विषयक तर्कशास्त्रीय शाखा को गम्य-गमक-भाव सम्बन्ध के स्वरूप-निरूपण के प्रसङ्ग में अरस्तु के बाद आगे बढ़ाया था। उनके शिष्य फिलो द्वारा दिया गया गम्य-गमकसम्बन्ध का लक्षण आधुनिक तर्कशास्त्र में सत्यतामूल्यपरक गम्यगमक सम्बन्ध (ट्रूथफंक्शनल या मैटीरियल इंप्लीकेशन) नाम से जाना जाता है। ष्टोआ संप्रदाय के तर्कशास्त्री क्रिसिप्पस के ईसा पूर्व 205/208 में देहावसान के साथ-साथ अरस्तु के **टपिक्स** की रचना से प्रारम्भ करके मात्र आधी शताब्दी की कालावधि का प्राचीन यूनानी तर्कशास्त्र का सृजनात्मक युग समाप्त हो गया। रोम के दार्शनिक वोयेथियस् (ईसा-पश्चात् 480-525) प्राचीन पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अन्तिम प्रतिनिधि एवं तर्कशास्त्री थे। पीटर एबेल्लार्ड (ईसा पश्चात् 1079-1142) के माध्यम से वोयेथियस् के तर्कशास्त्रीय ग्रन्थ **मध्ययुगीन पाश्चात्य तर्कशास्त्र का प्रारम्भ एवं विकास** ने एक सेतु की भूमिका निभायी।

मध्ययुगीन यूरोप की शास्त्रीय भाषा लेटिन के लिए प्रिसिन द्वारा रचित व्याकरण एवं बोयेथियस् के माध्यम से प्राप्त प्राचीन यूनानी तर्कशास्त्र के आधार पर लेटिन भाषा का तर्कशास्त्रीय विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। इस विश्लेषण के द्वारा मध्ययुगीन तर्कशास्त्रियों ने आकारपरक निगमनात्मक तर्कशास्त्र के दार्शनिक आधार को सुदृढ़ किया। विषय (कांटेंट) एवं आकार (फोर्म) पक्षों के भेद पर केन्द्रित प्राकृतिक भाषा के वाक्यों के विश्लेषण तथा वाक्य-तर्क के अर्थमीमांसीय विवेचन द्वारा मध्ययुगीन तर्कशास्त्रियों ने पाश्चात्य तर्कशास्त्रीय परम्परा को समृद्ध किया।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपने इतिहास की प्रारंभिक अर्ध शताब्दीमात्र कालावधि के सृजनात्मक युग के प्रत्यावर्तन के लिए पाश्चात्य तर्कशास्त्र को उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग तक प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। अंग्रेज़ गणितज्ञ जॉर्ज बूल के **मैथेमेटिकल एनालिसिस ऑफ लॉजिक** नामक ग्रन्थ के 1847 में प्रकाशन के साथ तर्कशास्त्र के बीजगणितीय अध्ययन का तथा आधुनिक पाश्चात्य तर्कशास्त्र का युग प्रारम्भ हुआ। बीजगणित के दृष्टिकोण से तर्कशास्त्र के अध्ययन को दे मर्गन, अंर्स्ट श्रूडर तथा सि. एस. पैर्स के द्वारा आगे बढ़ाया गया, यद्यपि बीजगणितीय पद्धतियों की अन्तर्निहित अर्थक्रियाकारिता तथा उपयोगिता बाद में जाकर 28वीं शताब्दी में ही सिद्ध हो पायी थी। वस्तुत: तर्कशास्त्र के विकास में बीजगणित का योगदान स्वयं बीजगणित के लिए भी फलप्रद एवं उसके विकास के लिए एक नवीन मार्ग सिद्ध हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम तीन दशकों में गणितशास्त्र के आधार विषयक समस्याओं पर यूरोप के शीर्षस्थ गणितज्ञों के द्वारा गहन एवं सूक्ष्म चिन्तन किया गया। फलस्वरूप गणित की प्रमुख शाखाओं से, विशेष कर परम्परागत अङ्कगणित, कलन गणित (कैल्कुलस) एवं विभिन्न कोटियों की संख्याओं से सम्बन्धित आधारभूत संप्रत्ययों का सूक्ष्म तर्कशास्त्रीय विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। जार्ज केन्टोर के द्वारा ई.प. 1870 में समुच्चय शास्त्र का शिलान्यास किया गया। गणितशास्त्र की सभी शाखाओं में समुच्चयशास्त्र की उपादेयता कुछ ही वर्षों में सिद्ध होने लगी। रिचर्ड डेडेकिन्ड के द्वारा विभिन्न कोटियों की संख्याओं का स्वरूप-निरूपण तथा उनके लिए निगमनात्मक तन्त्र का निर्माण किया गया। यूनानी रेखागणितज्ञ यूक्लिड के प्रसिद्ध ग्रन्थ **एलिमेन्ट्स** के प्रारूप पर संख्या-तन्त्रों के निर्माण एवं संख्या-शास्त्रीय ज्ञान को रेखागणितीय ज्ञान के सदृश निगमनात्मक रूप में व्यवस्थित करने का गणितज्ञों का स्वप्न धीरे-धीरे सफल होता दिखायी दिया। गणित-शास्त्रीय सिद्धि-प्रक्रियाओं के परिष्कृत तर्कशास्त्रीय विश्लेषण से अरस्तु द्वारा निर्मित तर्क-शास्त्रीय तन्त्र की अपर्याप्तता स्पष्ट होने लगी। तर्कशास्त्र की परिधि में रहकर धनात्मक पूर्ण संख्याओं के परिष्कृत लक्षण प्राप्त करने की गोतलब् फ्रेगे ने योजना बनायी। उसके क्रियान्वयन के लिए उसको अगत्या परम्परागत तर्कशास्त्र के विकल्प का अन्वेषण करना पड़ा। फलस्वरूप ई.प. 1879 में फ्रेगे के ग्रन्थ **वेग्रिफश्रिफ्ट** में एक निगमनात्मक तंत्र के रूप में आधुनिक आकारपरक तर्कशास्त्र का अवतरण हुआ। गणितीय सिद्धि-प्रक्रियाओं के सूक्ष्म एवं परिष्कृत विश्लेषण के लिए फ्रेगे का तन्त्र पर्याप्त सिद्ध हुआ है। विगत शताब्दी में इस नवीन तर्कशास्त्र के उपपत्ति-मीमांसीय (प्रूफ थ्योरेटिक) एवं अर्थमीमांसीय पक्षों के गहन अध्ययन किये गये। गणितीय तर्कशास्त्र दर्शन एवं गणित की एक साधारण शाखा के रूप में उभर कर आया है।

विगत शताब्दी में पाश्चात्य तर्कशास्त्र का बहुमुखी विकास हुआ है, परन्तु शास्त्र के इस बहुमुखी विकास से उसकी जन्मजात निगमन-केन्द्रितता अप्रभावित रही है। निःसन्देह रूप से इस का मूल कारण यह है कि निगमनकेन्द्रितता तर्कशास्त्रीय तन्त्रों को सहज भाव से गणितशास्त्रीय पद्धति से अध्ययन एवं अनुसन्धानयोग्य विषय के रूप में प्रस्तुत कर पाती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तर्कशास्त्रीय तन्त्र गणितीय अध्ययन के विषय के रूप में उपस्थित होने से तन्त्रविषयक परिष्कृत गणितीय ज्ञान प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त होता है। वस्तुतः पाश्चात्य गणितीय परम्परा भी प्रारम्भ से ही निगमनात्मक पद्धति को आदर्श के रूप में स्वीकार करके आगे बढ़ी है, यद्यपि कभी-कभी गणितीय अध्ययन एवं अनुसन्धान के कुछ क्षेत्रों में तथ्यों के अनावरण के उत्साह के कारण आधारभूत संप्रत्ययों के सूक्ष्म विश्लेषण की एवं सम्बन्धित ज्ञान को निगमनात्मक रूप में व्यवस्थित करने की समस्यायें गौण हो जाती हैं। इन स्थितियों में केवल अन्तर्बोध ही मार्गदर्शक होता है। न्यूटन एवं लाइब्नीज़ के द्वारा कलनशास्त्र के आविष्कार के बाद दो शताब्दियों तक आधारभूत सम्प्रत्ययों की परिष्कृत परिभाषा के बिना केवल अन्तर्बोध गम्य प्रत्ययों की सहायता से कलनशास्त्रीय तथ्यों का अनावरण सम्भव हुआ था, परन्तु 19वीं शताब्दी के अन्तिम तीन दशकों में कलन शास्त्र की आधारभूत समस्याओं पर ध्यान देना अपरिहार्य हो गया। यह भी स्मर्तव्य है कि लोवासेव्स्की एवं रीमान के द्वारा आविष्कृत यूक्लीडीय रेखागणितीय तन्त्रों की कल्पना यूक्लिडीय निगमनात्मक तन्त्रों के सूक्ष्म अन्वेषण के बिना सम्भव नहीं हो पाती। प्रतीत होता है कि निगमनात्मक पद्धति पाश्चात्य गणितशास्त्रीय एवं तर्कशास्त्रीय परम्पराओं की सृजनशक्ति का स्रोत अथवा उसका अविभाज्य घटक तत्त्व है। पुनश्च, यहां यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि गणित एवं तर्कशास्त्रों में निगमनात्मक पद्धति के विकल्प के रूप में क्या अन्य कोई पद्धति उपलब्ध है?

पाश्चात्य तर्कशास्त्र की असंस्थापित (नॉनक्लासिकल) शाखा के उदाहरण के रूप में ब्रावर के सहजबोधमूलक गणित (इंट्यूशनिस्ट मेथेमेटिक्स) में अन्तर्निहित सहजबोधात्मक तर्कशास्त्र को लिया जा सकता है। परम्परागत गणितीय सिद्धि-प्रक्रिया में मान्यता प्राप्त प्रतिषेध, अन्यतरत्व एवं गम्य-गमक सम्बन्ध मूलक व कतिपय प्रमाण-पद्धतियों के असंरचनात्मक पक्षों के परित्यागपूर्वक ब्रावर के द्वारा सहजबोध से अनुप्राणित संरचनात्मक गणितशास्त्र का प्रारम्भ किया गया। इस गणितशास्त्र की प्रमाण-पद्धतियों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने के लिए ब्रावर के अनुयायी एरेन्ड डेइटिंग को सहज बोधवादी तर्कशास्त्र का निर्माण करना पड़ा। इस तर्कतन्त्र के उपपत्ति-मीमांसीय तथा अर्थमीमांसीय अध्ययन पारम्परिक तथा बीजगणितीय पद्धतियों के द्वारा किये गये हैं।

प्राचीन यूनानी परम्परा में किये गये अपरिहार्यता एवं सम्भाव्यता विषयक तर्क (मॉडल लॉजिक) का पुनरुद्धार एवं विकास विगत शताब्दी के प्रथम पाद में सि. आइ. लिविस द्वारा किया गया। इन तर्कशास्त्रीय तन्त्रों से अनुप्राणित होकर तर्कशास्त्रियों द्वारा **विध्यात्मक तर्क** (डीऑंटिकलॉजिक), **कालिकसम्प्रत्ययविषयक तर्क** (टेंस लॉजिक) एवं **ज्ञानमीमांसीयसम्प्रत्ययविषयक तर्क** (एपिस्टेमिक लॉजिक) तन्त्रों का निर्माण किया गया। पुनश्च, गम्यगमक सम्बन्ध के संदर्भ में गम्य भाग के लिए गमक भाग की प्रासंगिकता का परिष्कार करने के उद्देश्य से **प्रासङ्गिकता तर्क** (रेलेवेंट लॉजिक) तन्त्रों का निर्माण किया गया। इन सभी प्रकार के तर्कशास्त्रीय तन्त्रों के उपपत्ति-मीमांसीय तथा अर्थमीमांसीय अध्ययन अनेकत्र एकाधिक पद्धतियों से किये गये हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समग्र गणितशास्त्र में केन्टोर के समुच्चयशास्त्र की आधारभूत भूमिका के कारण यह शास्त्र तर्कशास्त्र के निकटतम शास्त्र के रूप में अङ्गीकृत हुआ है। तर्कशास्त्र की कल्पना भाषा एवं जगत् के सम्बन्ध के अध्ययन के बिना नहीं की जा सकती, क्योंकि निगमनात्मक अनुमानों के आकार भाषा से निस्सृत तत्त्व हैं एवं अनुमानों की यथार्थता मूलभूत रूप में अर्थमीमांसीय सम्प्रत्यय है। तर्कशास्त्रीय तन्त्रों के सार्थक अध्ययन के लिए अर्थमीमांसा का निर्माण अपरिहार्य है क्योंकि इसके बिना निगमनात्मक तन्त्रों का मूल्यांकन सम्भव नहीं होता। फ्रेगे के तर्कशास्त्र में वाक्य तर्क (प्रोपोज़ीशनल लॉजिक) एवं विधेय तर्क (प्रेडिकेट लॉजिक) दोनों समाहित हैं। इस तन्त्र की शुद्धता एवं पर्याप्तता सिद्ध करना तभी सम्भव हुआ जब तन्त्रों के लिए परिष्कृत अर्थमीमांसा उपलब्ध हुई। विधेय तर्क-गहन अर्थ-मीमांसीय अध्ययन के फलस्वरूप विगत शताब्दी के मध्यभाग में बीजगणित तथा तर्कशास्त्र की साधारण शाखा के रूप में अर्थमीमांसा (थ्योरी ऑफ मॉडल्स) ने प्रतिष्ठा प्राप्त की। पुनश्च, सहज बोधगम्य पूर्णसंख्याओं के वरिष्ठ साधारण मानक प्राप्त करने की पद्धति के सदृश परिकलन पद्धतियों (एल्गोरिद्म्स या मेकेनिकल प्रॉब्लम साल्विंग प्रोसीजर्स) के परिष्कृत स्वरूप-निरूपण के प्रयास से विगत शताब्दी के तृतीय एवं चतुर्थ दशकों में परिकलन-मीमांसा (थ्योरी ऑफ कम्प्यूटेबिलिटी या रिकर्सिव फंक्शन थ्योरी) का प्रारम्भ गणित एवं तर्कशास्त्र की एक साधारण शाखा के रूप में हुआ। पाश्चात्य तर्कशास्त्र के और भी अनेक विशेष अध्ययन एवं अनुसन्धान-क्षेत्र उभर कर आये हैं, उन सबका विवरण देना यहाँ सम्भव नहीं है।

1.4 भारतीय वैचारिक परम्परा में शास्त्रस्वरूपविषयक सिद्धान्त

भारतीय वैचारिक परम्परा में शास्त्रस्वरूपविषयक दो सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। भारतीय तर्कशास्त्र की व्याप्ति-केन्द्रितता इन्हीं के द्वारा निरूपित हुई है। इन दोनों में से कालक्रम की दृष्टि से प्रथम है पाणिनीय व्याकरण (ई. पू. 5वीं शताब्दी) में अन्तर्निहित शास्त्रनिर्माण तथा मूल्यांकन पद्धति। शास्त्रस्वरूप विषयक इस सिद्धान्त को **व्याकरण प्रारूप** के नाम से अभिहित करना उपयुक्त होगा। इस प्रारूप की उपयोगिता मुख्यतया व्याकरण-निर्माण के क्षेत्र में सीमित रहने पर भी प्रारूप के कतिपय पक्ष सामान्य रूप में शास्त्रनिर्माण तथा शास्त्रों के दोष-गुण-विचार के लिए प्रासङ्गिक एवं उपादेय हैं। शास्त्रस्वरूपविषयक द्वितीय सिद्धान्त व्याकरण-प्रारूप का परवर्ती है एवं अक्षपाद गौतम (ई.प. द्वितीय शताब्दी) के **न्यायसूत्र** में अन्तर्निहित प्रारूप के रूप में प्राप्त होता है। इस प्रारूप को न्यायप्रारूप के नाम से अभिहित करना युक्तिसङ्गत होगा।

1.5 व्याकरण-प्रारूप की रूपरेखा

वेद के अङ्गभूत शास्त्रषट्कों में व्याकरण का प्रमुख स्थान है।[7] व्याकरणशास्त्र का अन्य नाम है 'शब्दानुशासन'। व्याकरण **शब्द-साधुत्वलक्षणपरक** शास्त्र है। भारतीय वैचारिक परम्परा की परिपोषक संस्कृति वेद-केन्द्रित रही है। अतः वाक्तत्त्वविषयक व्यवस्थित मनन को इस वैचारिक परम्परा में स्वाभाविक रूप से प्राथमिकता प्राप्त थी।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्याकरण-निर्माण के लिए भाषा के ध्वनिपक्ष का व्यवस्थित अध्ययन अपेक्षित है। शब्द वर्णानुक्रम स्वरूप है एवं शास्त्रप्रक्रिया-निर्वाह की दृष्टि से आवश्यक वर्णों की संख्या, प्रकार तथा उनके व्यावर्तक धर्मादि का निरूपण भाषा के ध्वनि-विषयक सूक्ष्म निरीक्षण एवं व्यवस्थित अध्ययन के बिना सम्भव नहीं है। वैदिक साहित्य में प्रातिशाख्य एवं शिक्षा-शास्त्रीय ग्रन्थों के स्थान एवं उनकी वैज्ञानिकता के स्तर से भारतीय वैचारिक परम्परा में भाषा के ध्वनिपरक अध्ययन को प्राप्त प्राथमिकता सिद्ध होती है। व्याकरणशास्त्र प्रायः उतना ही प्राचीन है जितना कि शिक्षाशास्त्र। वर्तमान में उपलब्ध ऋग्वेद संहिता के पद-पाठ का श्रेय शाकल्य को प्राप्त है।[8] परन्तु मन्त्रों के पद-पाठों के लिए सन्धिविषयक ज्ञान अपेक्षित है। पाणिनि की **अष्टाध्यायी** में व्याकरणशास्त्र के जिन पूर्वाचार्यों के नाम उल्लिखित हैं शाकल्य उनमें से एक हैं। वस्तुतः पाणिनि एक समृद्ध शिक्षा एवं व्याकरणशास्त्रीय परम्परा के उत्तराधिकारी थे। यह अवश्य सत्य है कि उनकी अप्रतिम प्रतिभा से शब्दानुशासन एक अभूतपूर्व परिष्कृत वैचारिक स्तर प्राप्त कर सका। उनकी **अष्टाध्यायी** संस्कृत भाषा को एक अति उत्कृष्ट कोटि का सुपरिष्कृत व्याकरण प्रदान करने के अतिरिक्त व्याकरण-निर्माण करने के लिए एक सार्वभौमिक पद्धति तथा व्याकरणशास्त्रीय ज्ञान को निगमनात्मक रूप में व्यवस्थित करने के लिए एक सामान्य पद्धति भी उपलब्ध कराती है। शास्त्रस्वरूप विषयक सिद्धान्त की दृष्टि से पाणिनीय व्याकरण के इन दोनों पक्षों का स्वतन्त्र विवेचन आवश्यक है।

1.5.1 पाणिनीय व्याकरण-निर्माण-पद्धति

वेद के कतिपय ब्राह्मण एवं आरण्यक भागों में भाषा का ध्वनि तथा संरचना विषयक चिन्तन प्राप्त होता है।[9] वेद की शाखाओं के पाठ एवं उच्चारण की विलक्षणताओं की रक्षा के लिए प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना की गयी थी। उन ग्रन्थों में वैदिक शाखाओं के ध्वनिपक्ष के निरीक्षण पर आधारित सामान्य नियम एवं उनके अपवाद विषयक विचारों की प्रमुखता परिलक्षित होने पर भी भाषा के संरचनापक्ष के चिन्तन को विशेष महत्त्व प्राप्त है। वर्तमान उपलब्ध अपिशलि एवं पाणिनीय शिक्षा ग्रन्थ प्रातिशाख्य ग्रन्थों से अर्वाचीन हैं। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वर्णोत्पत्ति के स्थान, करण, प्रयत्नादि विषयक तथा संधिविषयक व्यवस्थित विचारों से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय शिक्षा शास्त्रीय परम्परा में किसी भी भाषा के ध्वनि-पक्ष के अध्ययन के लिए पर्याप्त पद्धतिमूलक आधार प्राक्-पाणिनीय युग से उपलब्ध रहा था।[10] सन्धि-विषयक विचार भाषा के ध्वनिपक्षीय अध्ययन का अविभाज्य अङ्ग है। पाणिनि की **अष्टाध्यायी** में केवल उनके तन्त्रनिर्माण की दृष्टि से अपरिहार्य शिक्षा-शास्त्रीय प्रकरणों पर एवं विशेष रूप से सन्धि-प्रकरण पर ध्यान दिया गया है।

पाणिनि की **अष्टाध्यायी** में अन्तर्निहित व्याकरण-निर्माण पद्धति में तीन मुख्य सोपान परिलक्षित होते हैं। भाषा का शिक्षाशास्त्रीय अध्ययन उनमें से आधारभूत प्रथम सोपान है, जिसके बिना व्याकरण-निर्माण की कल्पना भी सम्भव नहीं है। द्वितीय सोपान पदव्युत्पत्ति-भाग है। शब्दों की प्रकृति-प्रत्यय विभागमूलक विश्लेषण-पद्धति भारतीय मनीषियों की वाक्तत्त्वविषयक मेधा से वैचारिक क्षेत्र में अवतीर्ण हुई है। पाणिनीय व्याकरण का पद-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्युत्पत्तिभाग इसी विश्लेषण-पद्धति पर आधारित है तथा इस पद्धति के प्रयोग-पक्ष को निरतिशयता तक पहुँचाना चाहता है। भाषा-भेद से विश्लेषण के प्रकार-भेद अवश्य अपेक्षित हैं। संस्कृत भाषा में नाम या सुबन्त तथा आख्यात या तिङन्त भेद से पद दो प्रकार के होते हैं। स्मरणीय है कि वर्णों के अनुक्रम विशेष ही पद हैं एवं पदों के अनुक्रम विशेष ही वाक्य हैं। व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से सिद्ध शब्द पदात्मक अथवा वाक्यात्मक होता है। जिन प्रकृतिभूत वर्णानुक्रम विशेषों से सुबन्त प्रत्ययों के द्वारा पद प्राप्त होते हैं वे प्रातिपदिक कहलाते हैं। उदाहरण स्वरूप 'नर' प्रातिपादिक से द्वितीया विभक्ति बहुवचनान्त 'शन्' प्रत्यय के द्वारा 'नरान्' पद प्राप्त होता है। व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से अव्युत्पन्न (आणविक) एवं व्युत्पन्न (यौगिक) भेद से प्रातिपदिक दो प्रकार के होते हैं। जिन प्रकृतिभूत वर्णानुक्रम विशेषों से तिङन्त प्रत्ययों के द्वारा आख्यात (तिङन्त) पद प्राप्त होते हैं वे धातु (क्रिया-वाचक शब्द) कहलाते हैं। उदाहरणस्वरूप 'पठ' धातु से तृतीय पुरुष प्रथमा एकवचनान्त 'तिप्' लग कर 'पठति' आख्यात पद प्राप्त होता है। कृदन्त, तद्धितान्त एवं समास-भेद से यौगिक प्रातिपदिक तीन प्रकार के होते हैं। धातु भी आणविक एवं यौगिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। धातु से कृदन्त प्रत्यय लग कर 'पाठ', 'पठितव्य', 'पठित्व', 'पठितुम' आदि कृदन्त यौगिक प्रातिपदिक बनते हैं। प्रातिपदिक से तद्धित प्रत्यय लगकर 'गुरुत्व', 'गौरव' जैसे तद्धितान्त यौगिक प्रातिपदिक बनते हैं। 'राजपुरुष', 'नीलकमल', 'अपण्डित' आदि यौगिक प्रातिपदिक विग्रह-वाक्यों से समास के द्वारा प्राप्त होते हैं। प्रातिपदिक से सुबन्त प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न अथवा धातु में तिङन्त प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न होने पर ही पदसंज्ञक शब्द वाक्यावयव की भूमिका निभा सकता है अन्यथा नहीं।

वाक्यव्युत्पत्तिभाग पाणिनीय व्याकरण-निर्माण-पद्धति का तृतीय तथा चरम सोपान है। पाणिनि का कारक सिद्धान्त इस अन्तिम सोपान का आधार है। यह धारणा भ्रमात्मक है कि पाणिनि का व्याकरण पदव्युत्पत्ति में सीमित है क्योंकि आख्यात पद ही वाक्य का केन्द्र है एवं कारक पद क्रियान्वित होकर ही अपनी अर्थमीमांसीय भूमिका निभा सकता है एवं षष्ठी विभक्त्यनुपद भी कारकपदान्वित होकर ही अपनी अर्थमीमांसीय भूमिका निभाता है।[11]

आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं आचारमूलक प्रयोजनों के बिना भी व्याकरण का शुद्ध शास्त्रीय प्रयोजन अपने आपमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लघु उपाय से सभी साधु शब्दों को प्राप्त करना, अर्थात् सिद्ध करना ही व्याकरण का शास्त्रीय प्रयोजन है।[12] यद्यपि साधु शब्दों के लक्षण उपलब्ध होने पर असाधु शब्द-समूह निषेध द्वारेण व्यावर्तित हो जाते हैं एवं असाधु शब्दों के लक्षण उपलब्ध होने पर साधु शब्दसमूह निषेधद्वारेण व्यावर्तित हो जाते हैं तथापि असाधु शब्द-समूह साधु शब्द-समूह जैसे शिष्टव्यवहार से विधिमुखेन निरूपित नहीं होने से अनिर्णीतस्वरूप होता है। अतः साधु शब्दों के निरूपण में ही शास्त्रलाघव है।[13] महाभाष्यकार स्पष्ट कहते हैं कि साधु शब्दों की सिद्धि उत्सर्गभूत सामान्य नियम एवं अपवाद रूपी विशेष नियमों के द्वारा ही सम्भव है।[14] भाषा के किसी भी विषय के तथ्यों को नियमनियन्त्रितता के अन्वेषण तथा विचारबद्ध करने के लिए उत्सर्ग रूपी सामान्य नियम का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु भाषानिष्ठ तथ्यों की तुलना में उत्सर्ग रूपी सामान्य नियम प्रायः

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोषग्रस्त हो जाता है। सामान्य नियमगत अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोषों के निवारण के लिए अपवाद रूपी विशेष नियमों की आवश्यकता होती है। उदाहरण-स्वरूप स्वर-सन्धि विषयक नियमों में अष्टाध्यायी के विधिसूत्र आद्-गुणः (6.1.84) के अनुसार अ वर्ण अथवा आ वर्ण के अनन्तर परवर्ती वर्ण इ या ई, उ या ऊ, ऋ या ॠ तथा ऌ रहने पर पूर्व-पर दोनों वर्णों के स्थान पर यथाक्रम ए, ओ, अर् एवं अल् गुणादेश होता है। इस उत्सर्ग सूत्र के अनुसार मम+इदम्=ममेदम्, महा+इन्द्र=महेन्द्र, परम+ईश्वर= परमेश्वर, नर+उत्तम=नरोत्तम, विद्या+उत्तमा=विद्योत्तमा, ब्रह्म+ऋषि=ब्रह्मर्षि एवं महा+ ऋषि=महर्षि आदि बनते हैं। परन्तु इस सूत्र के अनुसार उप+ऋच्छति=उपर्च्छति एवं प्र+ऋच्छति=प्रर्च्छति बनते हैं जो कि अशुद्ध है। अतः आद्गुणः यह उत्सर्ग सूत्र अतिव्याप्ति- दोषग्रस्त है। इस अतिव्याप्ति-दोष के निराकरण के लिए उपसर्गादृति धातौ। (6.1.88) यह अपवाद सूत्र प्रवृत्त होता है जिसके अनुसार अकारान्त अथवा आकारान्त उपसर्ग के बाद यदि ऐसा धातु आता है जिसका आदि वर्ण ऋकार है तब गुणादेश के स्थान पर वृद्धिआदेश होता है। अतः उप+ऋच्छति=उपार्च्छति, प्र+ऋच्छति=प्रार्च्छति आदि वाञ्छित शिष्टप्रयुक्त शब्दों की सिद्धि होती है एवं उत्सर्ग सूत्र के अतिव्याप्तिदोष का निराकरण हो जाता है। कभी-कभी उत्सर्ग सूत्र से अतिव्याप्तिदोष-निराकरण के लिए प्रवृत्त अपवाद सूत्र अतिव्याप्तिदोष-निराकरण करने के साथ-साथ मूल उत्सर्ग सूत्र अव्याप्तिदोष ग्रस्त कर देता है। तब अपवाद के अपवाद के द्वारा मूल उत्सर्ग सूत्र में उत्पन्न अव्याप्ति दोष का निराकरण करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरणस्वरूप वृद्धिरेचि। (6.1.85) के अनुसार अकार अथवा आकार के बाद सन्धि में ए अथवा ऐ आने पर पूर्व-पर उभयवर्णों के स्थान पर केवल ऐ आदेश होता है एवं उसी प्रकार अ अथवा आ के बाद ओ अथवा औ आने पर औ आदेश होता है। यह सूत्र आद्गुणः (6.1.84) का अपवाद है। परन्तु अकारान्त तथा आकारन्त उपसर्ग के बाद यदि ए अथवा ओ वर्ण से प्रारम्भ होने वाला धातु आता है तब पूर्व-पर उभय वर्णों के स्थान पर केवल गुणनामधेय वर्ण ए एवं ओ वर्ण रह जाते हैं। अब आद्गुणः (6.1.84) में अपवाद सूत्र वृद्धिरेचि। (6.1.85) के कारण आये हुए अव्याप्तिदोष का निराकरण अपवाद के अपवाद रूपी सूत्र एङिपररूपम् (6.1.91) के द्वारा होता है।

उत्सर्ग-अपवाद-पद्धति से नियमों के उपस्थापन एवं उन पर विचार वैदिक यज्ञानुष्ठान विषयक श्रौतसूत्रों में स्वाभाविक रूप से किये गये हैं।[15] व्याकरणशास्त्र में इस पद्धति की उपयोगिता शनैः शनैः सिद्ध हो पायी होगी। व्याकरण-निर्माण के पाणिनीय प्रारूप में उत्सर्ग-अपवाद पद्धति से ही शास्त्रीय नियमों एवं सम्बन्धित भाषागत तथ्यों के बीच समनियतत्वरूपी संगति स्थापित की जाती है। यह स्पष्ट है कि नियमों की तथ्यानुसारिता की परीक्षा वस्तुतः उनकी अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोषशून्यता की ही परीक्षा है। अतः व्याकरण शास्त्र में किसी भी प्रकरण में उत्सर्ग-अपवाद नियमों के व्यूह की तथ्यानुगतता की परीक्षा में सहजबोधगम्य अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति सम्प्रत्यय एवं फलतः व्याप्ति सम्प्रत्यय अपेक्षित रहते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

1.5.2 व्याकरणशास्त्रीय ज्ञान के लिए निगमनात्मक व्यवस्था

वैदिक एवं वेदोत्तरकाल की संस्कृत भाषाओं के साधु शब्दों की सिद्धि के लिए पाणिनीय **अष्टाध्यायी** एक निगमनात्मक तन्त्र प्रस्तुत करती है जिसमें संज्ञा एवं विधि-निषेधादि सूत्रों के द्वारा साधुशब्दों की सिद्धि की जाती है।[16] यूनानी परम्परा में निगमनात्मक तन्त्र-निर्माण की प्रक्रिया यूक्लिड के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **एलिमेण्ट्स** में पराकाष्ठा प्राप्त करती है।[17] इस हेतु यूक्लिडीय तन्त्र की पाश्चात्य वैचारिक परम्परा में 19वीं शताब्दी के अन्तिम पाद तक परिष्कृत वैज्ञानिक विचारप्रक्रिया के क्षेत्र में आदर्श की भूमिका रही। यूक्लीडीय तन्त्र रेखागणितीय प्रत्ययवादियों के लिए गम्यगमक भावापन्न व्यूह विशेष है। किसी भी रेखागणितीय प्रतिपाद्य को गम्यप्रतिपाद्य के रूप में लेकर उसको गमक प्रतिपाद्य एवं उन गमक प्रतिपाद्यों के गमक आदि धारावाहिक लेने पर गम्यतात्मकभाव की यह धारा अन्ततोगत्वा स्वयंसिद्ध आधारभूत वाक्यों में विश्रान्त होती है। उसी प्रकार पाणिनीय तन्त्र में किसी भी साधुशब्द की सिद्धि में अन्ततोगत्वा सिद्धिप्रक्रिया संज्ञा एवं विधिसूत्रों पर आश्रित रहती है। पाणिनीय निगमनात्मक तन्त्र के पदव्युत्पत्ति भाग में सिद्धिप्रक्रिया प्रतिपाद्यों के गम्यगमकभावसम्बन्ध पर आश्रित न रहकर साधुशब्दों की समानाकारता पर आश्रित रहती है। उदाहरणस्वरूप प्रातिपदिकों की सम्बोधन विभक्ति को छोड़कर कुल सात विभक्तियां होती हैं एवं प्रत्येक विभक्ति में एकवचन, द्विवचन एवं बहुवचन भेद से तीन रूप प्राप्त होते हैं। इन रूपों के आकार प्रातिपदिकों के अन्तिम वर्ण एवं लिंग-भेद से अलग-अलग होते हैं। परन्तु प्रातिपदिकों के अन्तिम वर्ण एवं लिंग समान रहने पर अपवादों को छोड़कर ये रूप समानाकार के होते हैं। उदाहरणस्वरूप व्यञ्जन-वर्णान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के तृतीया एकवचन रूप प्रातिपदिक के अन्तिम वर्ण में केवल आकार लगाकर प्राप्त होते हैं। अतः सभी प्रातिपदकों के तृतीया एकवचन के लिए एक सामान्य 'टा' नामक प्रत्यय लेकर प्रातिपदिक के अन्तिम वर्ण एवं लिंग-भेद से उस 'टा' (जिसका ट वर्ण केवल एक अनुबन्ध के रूप में रहता है) प्रत्यय के कार्य-भेद के लिए उत्सर्ग-अपवाद पद्धति से व्यवस्था करने पर सभी प्रातिपदिकों के तृतीया एकवचन रूप की सिद्धि की संभावना स्पष्टतया उपस्थित होती है।

उसी प्रकार सन्धि-प्रकरण में अङ्कगणित में संख्याओं की योग-प्रक्रिया के अनुरूप सन्धि को एक द्विपदी संक्रिया (बाइनरी ऑपरेशन) के रूप में देखा जा सकता है, जहां पर दो वर्णानुक्रम य र, व ल दिये जाने पर सन्धि-प्रक्रिया प्रथम वर्णानुक्रम के अन्तिम वर्ण र एवं द्वितीय वर्णानुक्रम के आदि वर्ण व के स्वरूप के अनुसार य ल श रूपी एक निश्चित वर्णानुक्रम उपलब्ध कराती है। सन्धिरूपी संक्रिया के कलन के लिए उत्सर्ग-अपवाद-पद्धति के द्वारा अन्तिम वर्ण र एवं आदिवर्ण व के स्वरूप पर आश्रित रहकर निगमनात्मक व्यवस्था प्रस्तुत करना सम्भव होता है।

संस्कृत भाषा के व्याकरण के लिए पाणिनि के द्वारा सुबन्त, लिङन्त, कृदन्त एवं तद्धित भेद से चार प्रकार के प्रत्ययों की व्यवस्था की गई है। गणित शास्त्र की दृष्टि से प्रत्येक प्रत्यय पूर्ण संख्याओं के वर्ण, घन आदि फलन के रूप में देखे जा सकते हैं। फलनस्वरूप होने से प्रत्येक प्रत्यय का निश्चित प्रतियोगी क्षेत्र (डोमेन ऑफ आर्गूमेंट्स)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होना आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप कुल 21 सुबन्त प्रत्यय हैं एवं समस्त आणविक तथा यौगिक प्रातिपदिकों के संघात सभी सुबन्त प्रत्ययों के साधारण प्रतियोगी क्षेत्र हैं। सभी धातुओं के संघात तिङन्त प्रत्ययों के साधारण प्रतियोगी क्षेत्र हैं। तद्धित एवं कृदन्त प्रत्ययों की अर्थमीमांसीय भूमिका के आधार पर उनके प्रतियोगी क्षेत्र विशेष नियमों के द्वारा सीमित किये जाते हैं। पाणिनीय निगमनात्मक तन्त्र के पद-व्युत्पत्ति भाग में इन प्रत्ययों के कलन के लिए आवश्यक संज्ञा एवं विधिसूत्र उत्सर्ग-अपवाद पद्धति से उपलब्ध कराये जाते हैं। यहां पर उल्लेख करना आवश्यक है कि पाणिनीय तन्त्र की सिद्धि-प्रक्रिया में अष्टाध्यायी के परिशिष्टात्मक **धातुपाठ** एवं **गणपाठ** अपेक्षित हैं। पद-व्युत्पत्ति भाग पर आश्रित रहकर कारक सिद्धान्त के आधार पर वाक्यों की सिद्धि की जाती है। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि पाणिनीय निगमनात्मक तन्त्र को प्रारूप के रूप में लेकर पालि एवं प्राकृत व्याकरण निगमनात्मक रूप में व्यवस्थित किये गये हैं।[18]

1.5.3 पाणिनीय निगमनात्मक तन्त्र की विशेषतायें

पाणिनीय निगमनात्मक तन्त्र में पद अथवा वाक्य विशेष के साधुत्व की सिद्धि संज्ञा एवं विधि सूत्रों से प्रारम्भ होकर परिमित संख्यक चरणों में समाप्त होती है।[19] पद्धतिमूलक दृष्टि से सिद्धि-प्रक्रिया में चरणों की संख्या परिमित होना अपरिहार्य है, अन्यथा प्रमाणानवस्थादोषप्रसङ्ग उपस्थित होता है। अरस्तु इस पद्धतिमूलक अपरिहार्यता को स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करते हैं।[20] अरस्तु के शास्त्रस्वरूपविषयक सिद्धान्त में उपपत्त्यात्मक निगमन अन्ततोगत्वा स्वयंसिद्ध आधारभूत सिद्धान्तों में विश्रान्त होता है। सम्यग्ज्ञान की प्रतिष्ठाभूमि-स्वरूप होने से आधारभूत सिद्धान्त सामान्यविषयक, सहजबोधग्राह्य, अपरिहार्य, अन्य उपपत्ति की अपेक्षा न रखने से स्वयंसिद्ध होते हैं।

पाणिनीय निगमनात्मक तन्त्र के प्रतिपाद्य शब्दसाधुत्वाभिलापकात्मक होने से भाषागत तथ्य के रूप में पूर्वप्रदत्त अथवा शिष्टानुमोदनीयत्व रूपी धर्मविशिष्ट होते हैं। व्याकरणशास्त्रीय संज्ञा एवं विधि-सूत्रों का ज्ञानमीमांसीय महत्त्व शब्द-साधुत्व सिद्धि के लिए उनकी उपादेयता पर आश्रित रहता है न कि उससे स्वतन्त्र रूप में स्वयंसिद्धत्वरूपी स्वनिष्ठ धर्म में। व्याकरणशास्त्रीय प्रत्ययों की कलन-प्रक्रिया अङ्कगणितीय कलन-प्रक्रिया-सदृश होने पर भी नियमों की स्वयंसिद्धता का प्रश्न यहां प्रासङ्गिक नहीं है। उदाहरणतः जिस प्रकार अङ्कगणितीय योग एवं गुणन-प्रक्रिया विषयक नियमों से $3^4=81$ सिद्ध होता है उसी प्रकार पाणिनीय व्याकरणगत संज्ञा एवं विधिसूत्रों से यह सिद्ध किया जाता है कि 'नर' शब्द का प्रथमा बहुवचन 'नराः' है, या शास्त्रीय भाषा में जस् (नर)=नराः। इसकी सिद्धि में 'नर' शब्द का प्रातिपदिकत्वाभिलापक वाक्य एक चरण के रूप में प्रविष्ट है जिसकी सिद्धि 'नर' शब्द की अर्थवत्ता रूपी भाषागत तथ्य तथा धातु एवं प्रत्ययों की शास्त्रीय संज्ञा एवं अनुमान प्रमाण पर आश्रित रहती है, क्योंकि पाणिनि की प्रातिपदिक संज्ञा के अनुसार[21] वही शब्द आणविक (अव्युत्पन्न) प्रातिपदिक की कोटि में आता है जो सार्थक है परन्तु न तो धातु है न प्रत्यय। पाणिनीय निगमनात्मक तन्त्र के विधिसूत्र ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से स्वयंसिद्ध नहीं होते हैं अपितु भाषागत तथ्यों के परिष्कृत पर्यवेक्षण रूपी अनुभव पर आश्रित होते हैं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अथवा शास्त्र-प्रक्रिया-निर्वाह करने के लिए उनकी उपादेयाता के आधार पर ग्राह्य होते हैं। उदाहरणस्वरूप इकोयणचि (6.1.74) तथा अकः सवर्णे दीर्घः (6.1.97) जैसे अनुभव-सिद्ध उत्सर्ग सूत्रगत नियमों को भी शास्त्र की आन्तरिक संगति की रक्षा के लिए अपवाद सूत्र रूपी विशेष विधि अथवा निषेध सूत्रों के द्वारा संकुचित करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरणस्वरूप अमि पूर्वः (6.1.103) रूपी अपवाद सूत्र के बिना 'नर' शब्द के द्वितीया एकवचन में अम् (नर)=नर+अम् से अकः सवर्णे दीर्घः (6.1.97) का अपवाद सूत्र प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (6.1.98) के अनुसार अशुद्ध रूप 'नराम्' तथा 'मुनि' शब्द के द्वितीया एकवचन में अम् (मुनि)=मुनि+अम् से इकोयणचि (6.1.74) के अनुसार अशुद्ध 'मुन्यम्' प्राप्त होते हैं। अतः उपर्युक्त प्रकार के विधिसूत्रों की तन्त्र में स्थान प्राप्त करने की योग्यता केवल उनकी शास्त्रप्रक्रिया-निर्वाहमूलक उपादेयता पर आश्रित रहती है।

पाणिनि की दृष्टि से व्याकरण में निगमनात्मक व्यवस्था का लक्ष्य स्वयंसिद्ध अपरिहार्य आधारभूत भाषाविषयक सिद्धान्तों से भाषागततथ्यपरक वाक्यों का निगमन नहीं है, क्योंकि तादृश लक्ष्य अप्राप्य है। उनके अनुसार व्याकरणशास्त्र में निगमनात्मक व्यवस्था की उपादेयता लघु तथा परिष्कृत उपाय से शब्द-साधुत्व सिद्धि में निहित है। पाणिनीय निगमनात्मक तन्त्र यूनानी परम्परा के सम्यक् ज्ञान की अपरिहार्यता तथा स्वयंसिद्ध आधारभूत सिद्धान्तमूलक उपपत्ति रूपी पूर्वमान्यताओं की अपेक्षा नहीं रखता है।

यूक्लिडीय निगमनात्मक तंत्र में वाक्यों के गम्य-गमक सम्बन्ध की प्रमुखता रहती है। परन्तु पाणिनीय निगमनात्मक तन्त्र में गणित शास्त्र की दृष्टि से फलनात्मक व्याकरणशास्त्रीय प्रत्ययों के परिकलन की प्रमुखता रहती है। व्याकरण-शास्त्र की सिद्धि-प्रक्रिया मुख्यतया प्रत्ययों का परिकलनस्वरूप है। प्रत्ययों के परिकलन उनके वर्णानुक्रम रूपी प्रतियोगियों में वर्णानुक्रमों के संयोजन, एक वर्ण के वर्णान्तर द्वारा प्रतिस्थापन, वर्ण या वर्णानुक्रमों के लोप एवं आगम आदि प्रक्रिया-साध्य होती है। अतः वहां पर गम्यगमक सम्बन्ध गौण हो जाता है। सम्भवतः इसी कारण भारतीय वैचारिक परम्परा में निगमनात्मक व्यवस्था रूपी शास्त्रीय लक्ष्य केवल भाषा के अध्ययन-क्षेत्र में आबद्ध होकर रह गया है।

1.5.4 व्याकरणशास्त्रीय निगमनात्मक तन्त्रों का मूल्यांकन

शब्दसाधुत्वसिद्धि ही व्याकरणशास्त्र का लक्ष्य है। किसी भी भाषा में साधु शब्दों का संघात परम्परया आगत स्मृति में धारण किये गये अथवा लिखित ग्रन्थ एवं समसामयिक शिष्ट प्रयोगादि के द्वारा निरूपित होता है। भाषा की सृजनात्मकता के कारण संभाव्य शुद्ध वाक्यों का संघात स्वतः अपरिमित होता है। सम्भाव्य साधु वाक्यों में शिष्ट-प्रयुक्तत्त्व न रहने पर भी शिष्ट प्रायोग्यत्व अवश्य रहता है। इतना स्वीकार न करने पर कवि एवं उपन्यासकार आदियों की अभूतपूर्ववाक्यघटित नूतन रचनाओं के लिए स्थान नहीं रह जाता।

व्याकरणशास्त्रीय निगमनात्मक तन्त्र के लिए साधु शब्द-संघात लक्ष्य की भूमिका निभाता है। वार्तिककार कात्यायन व्याकरणशास्त्र के स्वरूप-विचार के प्रसंग में लिखते हैं–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्। (महाभाष्य, पस्पसाह्निक, 1.1.1 वार्तिक)

उपर्युक्त वार्तिक की व्याख्या में महाभाष्यकार पतञ्जलि व्याकरणशास्त्र में शास्त्रकार के भाषागततथ्यविषयक ज्ञानमीमांसीय उत्तरदायित्व को स्पष्टतया सामने रखते हैं। शास्त्रकार द्वारा भाषा विशेष के लिए निर्मित व्याकरणतन्त्र से भाषागततथ्यानुवर्तित्व अपेक्षित है, अन्यथा शास्त्र का शास्त्रत्व विलुप्त होने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। व्याकरणशास्त्रीय निगमनात्मक तन्त्र भाषा के यावत् साधुशब्दसंघात के लक्षण की भूमिका निभाता है। निगमनात्मक तन्त्र का लक्षणत्व तभी सिद्ध हो पाता है जब तन्त्रसिद्ध शब्द-समूह एवं भाषा का साधुशब्दसंघात वस्तुतः एक हो, अर्थात् जब लक्षण एवं लक्ष्यतावच्छेदक धर्म समनियत हों। जब तन्त्रसिद्ध शब्द-संघात भाषा के साधुशब्दसंघात का उपसंघात होता है, अर्थात् जब तन्त्र में जिस शब्द की सिद्धि सम्भव होती है वह भाषा का साधुशब्द होता है, तब तन्त्र में भाषा की अपेक्षा से शुद्धताधर्म रहता है। अर्थात् जब एक या एकाधिक तन्त्र-सिद्ध शब्द भाषा की दृष्टि से साधुशब्द नहीं होते हैं तब तन्त्र में अशुद्धता अर्थात् भाषा की दृष्टि से अतिव्याप्ति-दोष रहता है। इस स्थिति में शब्दों का तन्त्रसिद्धत्व रूपी धर्म साधुशब्दत्व धर्म द्वारा व्याप्त न होकर व्यभिचार-दोषग्रस्त हो जाता है। इसी प्रकार व्याकरणशास्त्रीय निगमनात्मक तन्त्र से यह अपेक्षित है कि वह भाषा के सभी साधु शब्दों की सिद्धि के लिए पर्याप्त हो, अर्थात् यह अपेक्षित है कि साधुशब्दसंघात तन्त्रसिद्ध शब्दसंघात का उपसंघात हो। जब एक या एकाधिक साधु शब्द तन्त्र में सिद्ध नहीं किये जा सकते तब तन्त्र में अपर्याप्तता आ जाती है, अर्थात् तन्त्र अव्याप्तिदोषग्रस्त हो जाता है। इस स्थिति में साधुशब्दत्व रूपी हेतुभूत धर्म तन्त्रसिद्धत्वरूपी साध्यभूत धर्म से व्याप्त न होकर उसका व्यभिचारी हो जाता है। अतः व्याकरणशास्त्रीय निगमनात्मक तन्त्ररूपी लक्षण तभी निर्दुष्ट होता है जब वह अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोषों से रहित होता है। अन्य शब्दों में, एक भाषा के लिए निर्मित निगमनात्मक व्याकरणतन्त्र तभी निर्दुष्ट होता है जब उस भाषा के साधुशब्दत्व रूपी धर्म शब्दों के तन्त्रसिद्धत्व रूपी धर्म के साथ समनियत अर्थात् अन्योन्यव्याप्त होते हैं।

अतः यह स्पष्ट उत्सर्ग-अपवाद पद्धति से व्याकरणशास्त्र की निर्माणप्रक्रिया तथा व्याकरणशास्त्रीय निगमनात्मक तन्त्र की दोषगुण-विचार-प्रक्रिया, अर्थात् मूल्यांकन-प्रक्रिया उभय अतिव्याप्ति, अव्याप्ति एवं फलतः उनमें अन्तर्निहित अन्तर्बोधगम्य व्याप्ति-सम्प्रत्ययों की अपेक्षा रखती है। व्याप्ति-सम्प्रत्यय के बिना व्याकरण-परम्परा में उपलब्ध शास्त्रस्वरूपविषयक प्रारूप का स्वरूप-परिष्कार सम्भव नहीं है।

1.6 शास्त्रस्वरूपविषयक अक्षपाद गौतम का न्यायशास्त्रीय प्रारूप

व्याकरण-परम्परा में उपलब्ध शास्त्र-निर्माण का प्रारूप स्वभावतः भाषाकेन्द्रित रहा है, यद्यपि पाणिनीय निगमनात्मक पद्धति प्रत्ययरूपी फलनों के परिकलनपरक होने के कारण स्वरूपतः भाषा-केन्द्रित नहीं है। भारतीय वैचारिक परम्परा में शास्त्रस्वरूप विषयक सार्व-भौमिक प्रारूप की आवश्यकता की पूर्ति के लिए सम्भवतः अक्षपाद गौतम के न्यायशास्त्रीय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रारूप का उदय हुआ। ज्ञान का विषयक्षेत्र निरपेक्ष रूप से विचार-प्रक्रिया को व्यवस्थित रूप में विकसित करने के मार्ग का अन्वेषण होना प्रबुद्ध वैचारिक परम्परा के लिए स्वाभाविक है। वस्तुतः अक्षपाद गौतम अपने **न्यायसूत्र**[22] में न्यायदर्शन के निर्माण एवं बलाबलनिरूपण के लिए एक विशेष प्रारूप का प्रयोग करते हैं। सूत्रशैली से रचित ग्रन्थों में अन्तर्निहित सीमाओं के कारण गौतम अपने द्वारा उद्भावित एवं प्रयुक्त शास्त्रनिर्माण एवं मूल्यांकन विषयक प्रारूप के सम्बन्ध में मौन रहे हैं। भाष्यकार वात्स्यायन के द्वारा इस प्रारूप पर संक्षिप्त विचार किया गया है।[23] इस प्रारूप में उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा नामक तीन सोपानों में शास्त्र का निर्माण एवं मूल्यांकन किया जाता है।

(1) उद्देश–प्रत्येक शास्त्र एक स्वकीय विषय-क्षेत्र होता है। स्वकीय विषय-क्षेत्रगत पदार्थकोटियों के स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध-निरूपण के द्वारा क्षेत्रगत विषयों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना शास्त्रकार का लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए शास्त्रकार शास्त्र के विषय-क्षेत्र से कतिपय बीजभूत पदार्थ-कोटियों का चयन करता है। बीजभूत पदार्थ कोटियों का यह चयन उद्देश नाम से प्रचलित है। इस स्तर पर बीजभूत पदार्थों का केवल नाममात्रेण संकीर्तन किया जाता है। इस प्रारम्भिक सोपान में शास्त्रकार की मौन प्रतिज्ञा यह है कि बीजभूत उद्दिष्ट पदार्थ-कोटियों के स्वरूप-निरूपण तथा विभाग के द्वारा परिमित संख्यक चरणों में विषय-क्षेत्रगत सभी पदार्थ-कोटियों का स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध-निरूपण संभव हो पायेगा। क्षेत्रगत सभी पदार्थ-कोटियों के स्वरूप-निरूपण के द्वारा उनके परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव, सामानाधिकरण्य-असामानाधिकरण्य सम्बन्धादि उद्भासित हो पायेंगे, अर्थात् विषय-क्षेत्र में अन्तर्निहित पदार्थ-कोटियां तथा उनके परस्पर सम्बन्धों का व्यूह उद्भासित हो पायेगा।

(2) लक्षण एवं विभाग–प्रथम सोपान में उद्दिष्ट सभी बीजभूत पदार्थ-कोटियों के लक्षण देना तथा उनका विभाजन करना आवश्यक होता है। बीजभूत पदार्थकोटियों के लक्षण-निर्माण के समय लक्षणघटक पदार्थ के रूप में उद्भासित आनुषंगिक पदार्थों के लक्षण देना एवं विभाजन करना भी आवश्यक होता है। उदाहरणस्वरूप प्रमाण का लक्षण है प्रमा का करण। अतः प्रमारूपी पदार्थ का लक्षण एवं विभाजन करना आवश्यक होता है। करण पदार्थ के लक्षण में कारण पदार्थ घटकभूत पदार्थ के रूप में प्रविष्ट होता है। अतः आनुषंगिक पदार्थ के रूप में प्राप्त कारण पदार्थ का भी लक्षण तथा विभाजन करना आवश्यक होता है। प्रमाण के विभाजन से प्राप्त प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द एवं उपमान पदार्थों के लक्षण देना एवं विभाजन करना आवश्यक होता है। अनुमान-प्रमाण-लक्षण के घटक-पदार्थ के रूप में उद्भासित व्याप्ति-सम्बन्ध का लक्षण देना भी अपरिहार्य हो जाता है। उपर्युक्त लक्षण एवं विभाग की प्रक्रिया धारावाहिक रूप में सामान्य से विशेष की दिशा में चलती हुई परिमित संख्यक चरणों में विश्रांति प्राप्त करती है।

उपर्युक्त प्रक्रिया के फलस्वरूप प्रत्येक बीजभूत प्रथम सोपान में उद्दिष्ट पदार्थ कोटि के लिए पारिवारिक सम्बन्ध प्रदर्शित करने वाला एक तरु-चित्र (ट्री-डायग्राम) प्राप्त होता है। उसी प्रकार लक्षण-निर्माण-प्रक्रिया में उद्भासित लक्षणघटकभूत आनुषंगिक पदार्थों के लिए

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भी लक्षण एवं विभाजनपरक तरुचित्र प्राप्त होते हैं। इस प्रकार शास्त्रनिर्माण के द्वितीय सोपान के अन्त में प्रथम सोपान में उद्दिष्ट बीजभूत पदार्थों तथा आनुषंगिक पदार्थों के लक्षण एवं विभाजन प्रदर्शित करने वाले परिमित संख्यक तरुचित्र प्राप्त होते हैं। इस प्रक्रिया से प्राप्त प्रत्येक लक्षण-विभाजन-तरु परिमित संख्यक पर्वसन्धिविशिष्ट होता है। इस प्रकार के तरु में प्रत्येक पर्वसन्धि शास्त्र में अंगीकृत एक पदार्थ-कोटि का प्रतिनिधित्व करती है। दो अथवा अधिक लक्षणविभाजन तरुओं की साधारण पर्वसन्धि रहने की सम्भावना स्पष्टतया रहती है। उपर्युक्त प्रकार के तरु-चित्रों से विषयक्षेत्र में अन्तर्निहित व्यूह चक्षुग्राह्य रूप में बोधगम्य होता है।

(3) परीक्षा–परीक्षा रूपी तृतीय सोपान में पर्ववर्ती सोपानद्वय की उपलब्धि का मूल्यांकन किया जाता है। शास्त्र के स्वकीय विषय-क्षेत्रगत तथ्यातथ्य, लाघव-गौरव विचार, आन्तरिक संगति आदि के आधार पर ही शास्त्र की दोष-गुण-विचार रूपी परीक्षा सम्भव होती है। आदर्श के रूप में शास्त्र का दोषगुण-विचार निम्न बिन्दुओं पर केन्द्रित होना चाहिये–

(क) द्वितीय सोपान में निर्मित प्रत्येक लक्षण स्वीय लक्ष्य-समूह के आधार पर अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भव, चक्रक, अन्योन्याश्रय आदि दोष-शून्य है–यह निश्चित करना।

(ख) द्वितीय सोपान में किया गया प्रत्येक विभाजन वस्तुतः गौरवदोषग्रस्त नहीं है–यह निश्चित करना।

(ग) प्रथम सोपान में उद्दिष्ट पदार्थ-परिगणन वस्तुतः शास्त्र के स्वकीय क्षेत्र के लिए पर्याप्त है तथा लाघवान्वित है–यह निश्चित करना।

(घ) द्वितीय सोपान में निर्मित लक्षण-समूह परस्पर संगत रहकर शास्त्र को अन्तर्विरोधरहित करते हैं–यह निश्चित करना।

परीक्षा-सोपान के आधार पर शास्त्र में आवश्यक परिवर्तन एवं विकास की दिशायें स्पष्ट होती हैं। लक्षणगत अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों का निराकरण लक्षण-परिष्कार के द्वारा किया जाता है। सामान्यतया लक्षण-परिष्कार की आवश्यकता प्रासंगिक अज्ञात तत्त्वों के उद्भासित होने पर अथवा परिष्कार-पद्धति में नवीन सम्प्रत्ययात्मक उपकरणों के उपलब्ध होने पर पड़ती है। लक्षण-व्यूह के उत्तरोत्तर परिष्कृत रूप की प्राप्ति द्वारा शास्त्र का स्वाभाविक विकास होता है।

प्रथम सोपान में उद्दिष्ट बीजभूत पदार्थों की परिगणना में शास्त्र स्वकीय विषयक्षेत्र की दृष्टि से गौरव अथवा अपर्याप्तता दोष पाये जाने पर जिन परिवर्तनों की आवश्यकता होती है स्वाभाविक रूप में उनका प्रभाव शास्त्र में दूरगामी होता है। उसी प्रकार विभाजनमूलक परिवर्तन लक्षण-परिष्कारमूलक परिवर्तन की अपेक्षा से अधिक दूरगामी होता है।

गौतम का न्यायशास्त्रीय प्रारूप अनुभव तथा युक्ति को विशेष भूमिका प्रदान करते हुए शास्त्र में परिवर्तन अथवा पुनर्निर्माण के द्वारा विकास का प्रावधान करता है। शास्त्र-निर्माण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एवं मूल्यांकन का गौतमीय प्रारूप पदार्थलक्षण-केन्द्रित है। लक्षण के निर्दुष्टत्व सम्बन्धित लक्ष्यसमूह के साथ समनियतत्वसम्बन्धस्वरूप होने से स्पष्टतया अतिव्याप्ति, अव्याप्ति एवं फलतः व्याप्ति सम्बन्ध की अपेक्षा रहती है। अतः लक्षणों का दोष-गुण-विचार सम्प्रत्ययात्मक रूप में अपरिहार्यतःव्याप्तिसम्बन्धाश्रित होता है।

1.7 भारतीय तर्कशास्त्र की व्याप्तिकेन्द्रितता

पञ्चम परिच्छेद में व्याकरण-निर्माणस्वरूप-विषयक विमर्श में उत्सर्ग-अपवाद पद्धति की प्रमुखता स्पष्ट हुई। उत्सर्ग सूत्रों के लिए आवश्यक अपवाद सूत्रों का निरूपण तथा क्रम से अपवादों के अपवादों का निरूपण सम्बन्धित भाषागत तथ्यविषयक ज्ञान तथा सहजबोध के स्तर पर समयनियतत्व, अतिव्याप्ति, अव्याप्ति एवं फलतः व्याप्ति सम्बन्ध पर आश्रित रहकर ही किया जा सकता है, अन्यथा एक विशेष उत्सर्ग-सूत्र के लिए किन किन अपवाद-सूत्रों की आवश्यकता है इसका निर्णय करना सम्भव नहीं है। पुनश्च, पाणिनीय निगमनात्मक तन्त्र के मूल्यांकन-विषयक विचार के प्रसंग में यह तथ्य भी सामने आया कि तन्त्र का मूल्यांकन भाषागत तथ्य, सहजबोध के स्तर पर समनियतत्व, अतिव्याप्ति, अव्याप्ति एवं फलतः व्याप्ति सम्बन्ध पर आश्रित रहकर ही किया जा सकता है। कात्यायन पाणिनीय तन्त्र के अव्याप्ति दोषों का निराकरण अनेक स्थलों पर आवश्यक वार्तिकों के द्वारा करते हैं एवं ये संशोधन तथ्यानुसारी होने से परम्परया आदृत हुए हैं। गौतमीय प्रारूप भी लक्षणकेन्द्रित होने से तथा लक्षणों का मूल्यांकन व्याप्ति-सम्प्रत्ययाश्रित होने से स्वीय उस प्रारूप का परिष्कृत स्वरूप-विचार व्याप्ति-सम्प्रत्यय के बिना करना सम्भव नहीं है। अतः भारतीय वैचारिक परम्परा में उपलब्ध शास्त्र-निर्माण एवं मूल्यांकन विषयक दोनों प्रारूप व्याप्ति-सम्बन्ध के परिष्कृत स्वरूप-निरूपण की अपेक्षा रखते हैं। इसके बिना इन दोनों प्रारूपों का स्वरूप-निरूपण असम्पूर्ण रह जाता है।

पुनश्च, भारतीय दार्शनिक परम्परा की प्रमाण-मीमांसा में चार्वाक दर्शन को छोड़कर अन्य सभी दार्शनिक तन्त्रों में अनुमान-प्रमाण स्वीकृत है। वैदिक काल से चली आ रही वाद-परम्परा में अनुमान-प्रमाण की भूमिका सर्वविदित है। अनुमान-प्रमाण के प्राणभूत तत्त्व व्याप्ति-सम्बन्ध का ज्ञानमीमांसीय तथा तत्त्वमीमांसीय महत्त्व भी सर्ववादिसम्मत है, इसलिए भारतीय-प्रमाण मीमांसा में व्याप्ति-सम्बन्ध के स्वरूप-निरूपण की समस्या दीर्घकाल तक एक चुनौती के रूप में रही है।

शास्त्रस्वरूपविषयक सिद्धान्तों के परिष्कृत स्वरूप-निरूपण तथा अनुमान प्रमाण के निरूपण में व्याप्ति-सम्बन्ध की अपरिहार्य भूमिकाओं के कारण भारतीय परम्परा का तर्क-शास्त्र व्याप्ति-केन्द्रित रहा है।

150/20, शिप्रा पथ
मानसरोवर, जयपुर-302020

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्दर्भ

* प्रस्तुत निबन्ध लेखक के संरचनाधीन ग्रन्थ तर्कशास्त्र का स्वरूप का प्रथम अध्याय है।

1. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥ 41॥
   शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥42॥ –पाणिनीयशिक्षाः रुद्रप्रसाद अवस्थीकृत, प्रदीप व्याख्या विभूषिता, चौखम्भा संस्कृत सिरीज़, वाराणसी, 1972
2. शूत्राणां च नदीनां च दुर्विदाः प्रभवाः किल॥–महाभारत, आदिपर्व 136.11 गीताप्रेस संस्करण, गोरखपुर, विक्रम संवत् 2013 (पूना संस्करण, अध्याय 127)
3. जे. एच. राण्डाल, एरिस्टाटल, कलरिवम विश्वविद्यालय प्रेस, न्यूयार्क, 1963, पृ. 33
4. एरिस्टाटल, निकोमेकियन एथिक्स, vi 1140 बी 31-33
5. वही, vi 1141ए 5-7
6. एरिस्टाटल, सोफिस्टिकल रेफ्युटेशंस्, 184 ए 8-184 बी 8
7. "प्रधानं च षट्स्वंगेषु व्याकरणम्।"पतञ्जलिकृत महाभाष्यम्, प्रथम भाग, प्रदीप तथा उद्योत सहित। (हरियाणा साहित्य संस्थान, रोहतक, 1962, पृ. 10)
८. व्रजबिहारी चौबे, संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास, प्रथम खण्ड वेद, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1999, पृ. 92-93
9. ओमप्रकाश पाण्डेय, संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास, द्वितीय खण्ड, वेदाङ्ग, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1997, भूमिका, पृ. 31-32
10. (क) शोनक, ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्, उक्त भाष्य संवलितम्, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला-121, वाराणसी, 1986
    (ख) कात्यायन, शुक्ल यजुः प्रातिशाख्यम्, ज्योत्स्ना वृत्ति संवलितम्, सरस्वती भवन ग्रन्थ माला, 125, वाराणसी, 1989
11. रमानाथ शर्मा, पाणिनि, कात्यायन एण्ड पतञ्जलि : एन ओवरव्यू ऑफ संस्कृत ग्रेमेटिकल ट्रेडिशन, गोविन्दचन्द्र पाण्डे द्वारा संपादित, दि डॉन आफ इण्डियन सिविलाइज़ेशन, प्रथम खण्ड का प्रथम भाग, सेंटर फॉर स्टडीज़ इन सिविलाईज़ेशंस, नई दिल्ली, 1999, पृ. 747-758.
12. पतञ्जलि, महाभाष्य, प्रथम भाग, पृ. 10
13. वही, पृ. 24
14. वहीं, पृ. 25
15. प्रसङ्गादपवादो बलीयान्, 1.1.22, आश्वलायन श्रौतसूत्रम्, गार्ग्यनारायणकृत वृत्तिसंवलितम्, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, 1989, पृ. 12

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

16. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, अष्टाध्यायीभाष्य, प्रथमा वृत्ति, प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भाग, प्रज्ञादेवी-कृत रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, 1964, 1974, 1977.

17. यूक्लिड, एलिमेंट्स, विस्तृत प्रस्तावना तथा टीका के साथ, (थमास. एल. हीथ के द्वारा अंग्रेज़ी में अनूदित) खण्डत्रय, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क, 1956

18. (क) भिक्षु जगदीश काश्यप, पालिमहाव्याकरण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2000
(ख) हेमचन्द्र, प्राकृत व्याकरण, बम्बई, 1958

19. ब्रह्मदत्तजिज्ञासुकृत, पादटिप्पणी-15 में उल्लिखित अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति का परिशिष्ट द्रष्टव्य।

20. पोस्टीरियर एनालिटिक्स, प्रथम भाग का तृतीय अध्याय, 72

21. अर्थवद्धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। (1.1.45) कृत्तद्धितसमासाश्च। (1.1.46)

22. अक्षपाद गौतम, न्यायसूत्र, वात्स्यायन कृत न्यायभाष्य तथा विश्वनाथ कृत वृत्ति से संवलित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, पुणे, 193

23. न्यायसूत्र, 1.1.3 पर वात्स्यायनभाष्य द्रष्टव्य है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काव्य और सौन्दर्य*

यशदेव शल्य

मानवीय अन्वेषणों का एक वर्गीकरण 'सत्यविषयक' और दूसरा 'सौन्दर्यविषयक' इस प्रकार किया जाता है। विज्ञान, शास्त्र और दर्शन प्रथम वर्ग में रखे जाते हैं और काव्य तथा कलाएँ दूसरे वर्ग में। यह वर्गीकरण स्पष्टत: सर्वसमावेशी नहीं है–उदाहरणत: धर्म, सदसद् या कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक एक ओर तथा शिल्प दूसरी ओर इनमें से किसी वर्ग में नहीं रखे जा सकते। किन्तु यहाँ इस बात की उपेक्षा की जा सकती है। हमने अन्यत्र इस वर्गीकरण को दूसरा आधार देना चाहा है। हमने इन दोनों वर्गों का अनुसन्धेय सत्य को मानते हुए इस वर्गीकरण को विषयवृत्तिक और विषयिवृत्तिक यह नाम दिया है। किन्तु यह सत्य क्या है जो दोनों में अनुसन्धेय रहता है? वास्तव में स्वयं सत्य के भी दो अर्थ हैं—एक 'धारणा या विश्वास की अपने विषय से एवं कथन की अपने कथ्य से यथातथता' और दूसरा 'वस्तु की अपने प्रत्यय से तथा आत्मा की अपने स्वरूप से यथातथता।' इस दूसरे अर्थ में सत्य मूल्य का पर्यायवाची हो जाता है क्योंकि वस्तु की उसके प्रत्यय से अनुरूपता और आत्मा की उसके स्वरूप से अनुरूपता ये दोनों अनुरूपताएं या यथातथताएं उनके अस्तित्व में ही निहित दोष के निवारण के द्वारा साध्य होती हैं और इस प्रकार सत्य यहां साध्य होता है। सत्य के ये दो अर्थ एक-दूसरे से मूलगामी रूप में भिन्न हैं, किन्तु काव्य और कलाओं में ये दोनों अर्थ अभिप्रेत रहते हैं। कवि काव्य में अपनी अनुभूति या अपने द्वारा साक्षात्कृत अर्थों से उनकी अभिव्यक्ति की सम्यक्ता को लक्षित करता है, इस रूप में इसमें सत्य को प्रथम अर्थ में अनुसन्धेय कहा जा सकता है, किन्तु दूसरी ओर कवि के लिए अपनी अनुभूति या साक्षात्कृत अर्थों की अपनी संभावनाओं की पर्यन्तता को पाना अपेक्षित होता है, इस अर्थ में काव्य में सत्य का दूसरा अर्थ लक्षित रहता है। काव्यविषयक सत्य के प्रथम रूप पर हमने **मूल्य तत्त्वमीमांसा**[1] पुस्तक के 'काव्य का अन्वेष्य' तथा 'काव्यान्वेष्य सत्य का स्वरूप' अध्यायों में विस्तार से विचार किया है। यहाँ हम काव्य में सत्य के दूसरे अर्थ पर विचार करेंगे।

किन्तु उससे पहले काव्य विषयक एक दूसरी दृष्टि पर, जो प्राय: सर्वस्वीकृत दृष्टि है, विचार करना उपयोगी होगा। इस दृष्टि के अनुसार काव्य का अन्वेष्य या साध्य सौन्दर्य है। इस गोष्ठी[2] का विषय 'सौन्दर्य-मीमांसा' रखने में भी यही धारणा पूर्वगृहीत है।

---

* यह लेख पहले चेतना के अंक 2 में प्रकाशित हुआ। किन्तु वहां मुद्रण में पृष्ठों का कुछ व्यतिक्रम हो गया जिससे वह प्रकाशन व्यर्थ हो गया। इसमें कुछ संशोधन भी किया गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किन्तु यहाँ 'सौन्दर्य' से क्या अभिप्राय है यह निश्चित करना संभव नहीं है, क्योंकि वे ही चिन्तक रस को भी काव्य का अन्वेष्य कहते हैं और रसों में रौद्र और वीभत्स रस भी परिगणित होते हैं। जो भी हो, यह तो कहा जा ही सकता है कि सौन्दर्य काव्य का सर्वस्व भले ही नहीं हो किन्तु वह भी बहुत बार उसमें अन्वेष्य या साध्य रहता ही है। शृंगार रस का उपजीव्य सौन्दर्य ही है और वह काव्य का मुख्य रस है।

किन्तु काव्य में सौन्दर्य की बात इस अर्थ में नहीं की जाती, 'काव्य' और 'सौन्दर्य' को पर्यायवाची के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है, कम से कम सौन्दर्य को काव्य का सर्वस्व तो माना जाता ही है। गोविन्दचन्द्र जी पांडे ने काव्य पर संस्कृत में जो पुस्तक लिखी है उसका नाम **सौन्दर्य-दर्शन विमर्शः** रखा है, अपनी पुस्तक **मूल्यमीमांसा** में उन्होंने 'सौन्दर्यानुभूति या कलानुभूति' इस प्रकार इन दो पदों का पर्यायवाची के रूप में ही प्रयोग किया है, महादेवी वर्मा अपने **दीपशिखा** नामक कविता-संग्रह की भूमिका में लिखती हैं—"सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है", जिसका भी अर्थ है कि काव्य सौन्दर्य-व्यापार है जिसके द्वारा कवि सत्य को लक्षित करता है। किन्तु काव्य या कला को सौन्दर्य का पर्यायवाची कहने या सौन्दर्य को काव्य का सर्वस्व कहने में भी 'सौन्दर्य' का अर्थ पूर्णतः बदल जाता है, यह स्पष्ट है। किन्तु पदों के ऐसे पारिभाषिक प्रयोग से व्यामिश्र ही उत्पन्न होता है, कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

किन्तु तब भी इतना सही है कि सौन्दर्य केवल काव्य और कलाओं में ही निरूपित और भावित होता है, दर्शन या शास्त्रों में नहीं। दर्शन में यह विमर्शित हो सकता है और शास्त्र में वर्णित। किन्तु 'सौन्दर्य' का क्या अर्थ है, यह निश्चित करना उतना सरल नहीं है। सौन्दर्य को प्रथमतः रूप के एक गुण के रूप में समझा जाता है, किन्तु इस अर्थ में भी यह निश्चित करना सरल नहीं है कि यह गुण क्या या कैसा है? यदि इसे 'मन पर प्रभाव' से परिभाषित करें तो यह वस्तु-गुण नहीं रह जाता, यह केवल वस्तु पर आरोपित मनोभाव जनित गुण ही सिद्ध होता है। यों यह द्रष्टव्य है कि जिन्हें हम वस्तु-गुण कहते हैं वे भी वास्तव में इन्द्रियजन्य आरोप ही होते हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में उन्हें वस्तुगत ही मानते हुए सौन्दर्य को उनसे भिन्न किया जा सकता है। इसे 'मनोभाव का वस्तु पर गुण रूप में आरोप' कहने पर यह विषयिनिष्ठ गुण ठहरता है—स्वाद के समान। इसके पर्यायवाची 'कमनीय', 'मनोरम' आदि शब्द इसके इसी रूप के द्योतक हैं। किन्तु विषयिता के सम्बन्ध में एक बात ध्यातव्य है कि इसमें एक प्रकार-भेद रहता है। इसके कुछ प्रकार जबकि राग, वासना और संस्कार आदि मूलक होते हैं, दूसरे कुछ इनसे चित्त की मुक्ति में ही प्रकट होते हैं। इसमें चित्त की अतीन्द्रिय तत्त्वों की ग्राहक संवेदनशीलता करण बनती है। स्वाद का मूल जबकि प्रथम प्रकार की विषयिता में है कलान्वेष्य सौन्दर्य का मूल दूसरे प्रकार की विषयिता में। दूसरे प्रकार की विषयिता इस तरह परिष्कार्य होती है कि इसमें चित्त विषयिनिष्ठता से मुक्त होकर साक्षात्कारात्मक हो पाता है। सौन्दर्यदर्शी विषयिता इस दूसरे प्रकार की ही माननी चाहिए। विषयिता का ऐसा ही प्रकार सदसद्-विवेक में लक्षित होता है। जिस प्रकार सौन्दर्य को रूप में देखा जाता है, सदसद् को कर्म में देखा जाता है, किन्तु ये दोनों साक्षात्कारात्मक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चेतना के दृष्टि-विषय होते हैं। उदाहरणत: तारकित नभ का सौन्दर्य और बुद्ध की प्रतिमा का सौन्दर्य कैटवाक् करती मॉडल के सौन्दर्य से प्रकारत: भिन्न हैं। इनमें प्रथम का मूल जबकि राग-मुक्त विषयिता में है, दूसरे का मूल रागात्मक विषयिता में है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि बुद्ध-प्रतिमा में मूर्त्तिकार सौन्दर्य को लक्षित कर मूर्त्ति-निर्माण नहीं करता जबकि मॉडल सौन्दर्य को ही लक्षित करती है। किन्तु तब भी बुद्ध की सुरचित मूर्त्ति में या स्वयं बुद्ध की मुख-मुद्रा में सौन्दर्य अपनी पराकाष्ठा में हो सकता है, यह निर्विवाद ही होगा। यहाँ रूप-निरूपण के दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं। कालिदास दिलीप की पत्नी के गर्भवती होने पर उसका रूप इस प्रकार निरूपित करते हैं—

शरीरसादादसमग्रभूषणा, मुखेन सा लक्ष्यत लोध्रपांडुना,
तनुप्रकाशेनविचेयतारका, प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी। रघुवंश, 3.2

यहाँ कालिदास को सुदक्षिणा के सौन्दर्य का वर्णन अभिप्रेत नहीं है, किन्तु यहाँ सुदक्षिणा और प्रभातकल्पा शर्वरी दोनों का जो सौन्दर्य व्यंजित हुआ है उसकी तुलना कैटवाक करने वाली मॉडल का या चन्द्रवदनी मृग-लोचनी नायिका का रूप नहीं कर सकता, यह केवल उच्चतर सौन्दर्य-बोध-सम्पन्न और पर-तत्त्वों के प्रति संवेदनशील चेतना ही देख सकती है। सुदक्षिणा के इस सौन्दर्य की योजना में उसके नयन-नक्श की सुघड़ता भी आवश्यक है, किन्तु उसमें इससे कहीं अधिक योगदान उसके मनोभावों का है, जो नयन-नक्श की उस रचना के ऊपर प्रकाशित होता है। किन्तु सौन्दर्य का एक और रूप है जो देह के रूप से निरपेक्ष भी साक्षात्कार्य हो सकता है, केवल उसके लिए चित्त का और अधिक परिष्कार अपेक्षित होता है। इसके लिए गोविन्दचन्द्र जी पांडे की एक कविता उदाहरण प्रस्तुत करती है—

सफाई करती किसी स्त्री को देख
क्या नहीं लगता जैसे
पावन धारा हो
गंगा की, हिमालय-समीर की,
समय की?

यहाँ सौन्दर्य का ही नहीं, किसी रूप का भी वर्णन नहीं है, रूप के नाम पर केवल एक गतिमयी रेखा का ही वर्णन है जिसमें रूप का केवल संकेत है, किन्तु जो रेखा अपने इसी अरूप के कारण शुद्ध भाव की अधिक उपयुक्त व्यंजक बनती है, और भाव का उद्दीपक ऐसे आलंबन का साक्षात्कार है जिसका सौन्दर्य लोकातीत और दिव्य है।

किन्तु काव्य में केवल प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सौन्दर्य का वर्णन ही नहीं रहता, उसमें किसी भी अर्थ का अवगाहन और मूल्य की सिद्धि का प्रयत्न भी साध्य रह सकता है, और इसमें सफलता से ही काव्य की सफलता मापित होती है। यही वास्तव में विज्ञान, दर्शन और शास्त्र में भी रहता है, केवल इस भेद के साथ कि काव्य में जबकि वृत्ति विषयितापरक रहती है, दर्शनादि में वृत्ति विषयतापरक रहती है। इस भेद का एक बहुत उत्कृष्ट उदाहरण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'सड़क'[3] शीर्षक निबन्ध प्रस्तुत करता है जिसमें सड़क अपनी कथा कहती है—अपने अस्तित्व के अर्थ और उस अर्थ की व्यथा की कथा। सड़क के अस्तित्व का वह अर्थ विषयवृत्तिकता के लिए अनुपलभ्य है, क्योंकि वह अर्थ वस्तु या व्यक्ति के अपनी विषयिता में स्वयं होने में ही जन्म लेता है और कलाकार उसके उस रूप में ही उसे व्यक्त करता है—उसके होने, भोगने या देखने में सहभागी होकर। यहाँ एक आपत्ति हो सकती है कि सड़क तो भौतिक अस्तित्व है, वह कुछ अनुभव नहीं करती, इसलिए उसकी विषयिता का कोई अर्थ नहीं बनता। यह सही है, किन्तु इसी कारण वह निबन्ध कला की वृत्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। इस वृत्ति में कवि को यदि सड़क पर लिखना है तो वह उसमें विषयिता का आरोप कर उसमें सहभागी होकर ही लिख सकता है। किन्तु यह आरोप अध्यास रूप नहीं होता, यह ईश्वरीय चैतन्य के अनुरूप स्वतंत्र सर्जन होता है—जगन्माया को रचकर उसमें अन्त:प्रवेश जैसा। यही बात चित्रकार करता है, जब वह सड़क को चित्र-विषय बनाता है। उस चित्र द्वारा वह सड़क की भौगोलिक स्थिति या भौतिक परिस्थिति को दर्शित नहीं करता, उसके द्वारा वह सड़क के अन्तस् को, या उस दृश्य के अन्तस् को सड़क जिसकी अंग है व्यंजित करने को ही लक्षित करता है।

किन्तु इस पर कहा जा सकता है कि ऊपर उद्धृत कालिदास का श्लोक और पांडेजी की कविता तो विषय-वर्णनात्मक ही हैं—श्लोक में सुदक्षिणा जैसी दिखायी देती है उसका वर्णन है और कविता में झाड़ू देती स्त्री का वर्णन है, केवल इस अन्तर के साथ कि इनमें कवि वर्ण्य के इन्द्रिय-गोचर गुणों तक सीमित नहीं रह कर भावगम्य गुणों का भी वर्णन करता है। कालिदास के श्लोक की पहली पंक्ति में तो वास्तव में सुदक्षिणा के इन्द्रिय-गोचर गुणों का ही वर्णन है। यह सही है। कला में संपूर्ण वर्ण्य वस्तु-लोक मनोलोक की विषयिता की व्यंजना का माध्यम मात्र ही होता है और वह माध्यम जितना ही पारदर्शी होता है कलाकृति उतनी ही सफल समझी जाती है। जहाँ वर्ण्य की विषयिता व्यंग्य नहीं होती वहां कवि-कलाकार की विषयिता व्यंग्य होती है। किन्तु यह ध्यातव्य है कि कला में कलाकार की अपनी विषयिता भी उसके लिए साक्षात्कार्य होती है जिसमें वह अन्त:-प्रविष्ट होकर उससे पुन: तादात्म्य साधता है। उसमें वह विषयि-स्वयं : अर्थात् उपरक्त विषयी : नहीं होता, उसमें वह आत्मसाक्षात्कारी विषयी, अपने को अपने से भिन्न कर अपने से पुन: तादात्म्य साधने वाला विषयी होता है। उदाहरणत: ऊपर पांडेजी की कविता में 'सफाई करती एक स्त्री' प्रकटत: एक वर्ण्य विषय हीं है, किन्तु यह विषय यहाँ कवि की साक्षात्कारी कल्पना के द्वारा एक ऐसे भाव का व्यंजक बनता है जो भाव बाह्य लोक में उपस्थित वस्तु को उसका एक लोकोत्तर याथातथ्य प्रदान करता है। कवि को यह साक्षात्कार उसके अपने मनोलोक में ही होता है, किन्तु यह ***साक्षात्कार*** होता है, भावुकता नहीं होती। कवि उसी साक्षात्कृत को अभिव्यक्ति देता है। यदि यह उसकी भावुकता होती तो यह कविता नहीं होती; वह एक प्रलाप मात्र, उद्वेगाभिव्यक्ति मात्र, होती।

यह मनोलोक भावना और विचार दोनों का समवेत लोक होता है। किन्तु विषय-वृत्तिकता में भावना के लिए कोई अवकाश नहीं होता, इस कारण इस वृत्ति में भावना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आवरक ही मानी जाती है। इस वृत्ति में भावना यदि प्रवेश चाहती है तो उसे वहां अपना चिद्वृत्ति-रूप छोड़कर बाह्यत: प्रस्तुत विषय रूप होना होता है। किन्तु विषयिवृत्तिकता में भावना विचार को गर्भस्थ कर ऐसे अर्थों का साक्षात्कार कर पाती है जो विषयवृत्तिकता में अनुपलभ्य रहते हैं। ये अर्थ लौकिक होने पर भी उनकी भूमि भिन्न होती है जिस कारण काव्य में भाषा को भिन्न रूप लेना पड़ता है, अथवा इन अर्थों को अभिव्यक्ति की सर्वथा भिन्न विधाओं का आश्रय लेना पड़ता है, जैसे चित्र, मूर्त्ति और संगीत आदि का। काव्यशास्त्री जिसे अलंकार, वक्रोक्ति आदि कहते हैं वे उचित रूप में काव्यभाषा के साधारण प्रयोग ही समझे जाने चाहिएँ, क्योंकि कवि उनका उपयोग अभिव्यक्ति को अलंकृत करने के प्रयोजन से नहीं करता बल्कि काव्यार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए ही करता है, जो अर्थ भाषा के साधारण प्रयोग के लिए अवाच्य होते हैं। भाषा का साधारण प्रयोग विषयवृत्ति प्रकारक ही होता है, विषयिवृत्तिप्रकारक नहीं होता। 'मैं दु:खी हूँ', "मैं प्रेम करता हूँ' आदि प्रयोग उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार का 'यह घर है' प्रयोग है। इसके विपरीत काव्य के अर्थ विषयिवृत्तिक होने से उन अर्थों के वचन के लिए भाषा को ऐसे अभिव्यक्ति-रूपों का आश्रय लेना पड़ता है जिन्हें काव्यशास्त्री 'अलंकार' कहते हैं। किन्तु ये रूप अलंकृतिधर्मी नहीं होते, ये काव्य-भाषा के सहज प्रयोग ही होते हैं, जैसे संगीत में स्वर के और चित्रकला में वर्ण-छायाओं तथा रेखाओं और रेखा-भंगों के प्रयोग होते हैं। ऊपर कालिदास के श्लोक में उपमा का प्रयोग अभिव्यक्ति को सुन्दर बनाने के लिए हुआ कहना युक्त नहीं है, बल्कि उसे सुदक्षिणा के रूप के भावन में दृष्ट अर्थ की सहज अभिव्यक्ति, अथवा कहें दृष्ट अर्थ का अभिधात्मक वचन ही समझना चाहिए। यह बात और भी स्पष्ट पांडेजी की उपर्युद्धृत कविता से हो जाती है जिसमें उपमाएँ अभिधात्मक प्रयोग से अभिन्न हैं, क्योंकि कवि इसमें जो देख रहा है वही कह रहा है। यह ऐसा ही है जैसे आप कोई नया फल खाएँ और उसकी मिठास के बारे में बताना चाहें कि वह कैसी है तो कहेंगे 'बहुत कुछ केले जैसी' या 'केले और आम को मिला देने पर जैसी होगी वैसी।' इनमें अन्तर केवल यह है कि फल का स्वाद जबकि इन्द्रियगोचर गुण है सुदक्षिणा का वर्ण्य रूप या सफाई करती स्त्री का वर्ण्य रूप इन्द्रियगोचर नहीं है। कालिदास के श्लोक की पहली पंक्ति में 'लोध्रपांडु' शब्द स्पष्टत: सुदक्षिणा के इन्द्रियगोचर वर्ण का सूचक मात्र है और इस प्रकार अभिधार्थक है, यद्यपि यहाँ भी उपमा ही है, किन्तु जहाँ तक दूसरी पंक्ति का सम्बन्ध है उसमें अद्भुत सुन्दर उपमा है, किन्तु उसका सौन्दर्य निरूपण की सम्यक्ता में ही है, जो सम्यक्ता सुदक्षिणा के रूप को देखकर उपजे भाव का पारदर्शी वाचक होने में है, उसके भाषा-सौष्ठव या उक्ति-पटुता में नहीं, जो पटुता वाच्य से अधिक अपनी द्योतक होती है। इसके स्पष्टीकरण के लिए एक और उदाहरण देना उपयोगी होगा जिसमें किसी तथाकथित अलंकार का प्रयोग नहीं है, मात्र वर्णन ही है—शब्दों का अभिधात्मक प्रयोग, किन्तु तब भी जो व्यंजित है वह केवल काव्य का ही विषय हो सकता है। उसमें अभिधार्थ ही ऐसा दृश्य प्रस्तुत करता है जो अभिधेय होकर भी व्यंजक है। उदाहरण है—

कुछ आप हँसे, कुछ नयन हँसे, कुछ नयनन बीच हँसे कजरा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यहाँ कहा जा सकता है कि 'नयनों में कजरा का हँसना' में उत्प्रेक्षा है। किन्तु अधिकांश उत्प्रेक्षाओं के समान यह उत्प्रेक्षा भी भाषा के अभिधार्थक प्रयोग का विस्तार मात्र ही है, अन्यथा तो 'नैन हँसे' पद भी उत्प्रेक्षात्मक ही होगा, क्योंकि 'हँसना' का प्रयोग साधारणत: आँखों के साथ नहीं होता। किन्तु ये प्रयोग साधारण भाषा के अभिधार्थक प्रयोग भी हैं, क्योंकि अन्यथा तो सारा भाषा-प्रयोग ही उत्प्रेक्षात्मक, उपमात्मक और रूपकात्मक दिखाया जा सकता है। अवश्य काव्य में अलंकारों का प्रयोग भी कवि लोग करते हैं, किन्तु उसे भाव और अर्थ की क्षीणता का द्योतक ही मानना चाहिए, इनका पोषक नहीं। हमारा अभिप्राय यह है कि जैसे वैचारिक लेखन में भाषा का कुशल या अकुशल प्रयोग होता है उसी प्रकार काव्य में भी होता है, काव्य में भाषा जो ऋजुता छोड़कर वक्रता अपनाती है, अभिधात्मकता छोड़कर लाक्षणिकता या व्यंजकता का आश्रय लेती है, वह केवल उसका वाच्य विषयात्मक होने के बजाय विषयि-आत्मक होने के कारण।

किन्तु विषयिता का मूल लक्षण तो आवेगात्मकता, असंप्रेष्यता और अहङ्केन्द्रितता होता है जबकि काव्य संप्रेषण के लिए ही लिखा जाता है और इस प्रकार इसका भाषा-प्रयोग भी विषयनिष्ठ भाषा-प्रयोग के समान ही सर्वगम्य अर्थ-वाहक होता है। इसके समाधान के लिए हमारे काव्य-शास्त्रियों ने साधारणीकरण की बात की है। उनके अनुसार काव्य में यह साधारणीकरण ''अहं प्रत्यय के विषय के लौकिक तादात्म्य से विच्छिन्न हो जाने से होता है।'' उनके अनुसार ''इस अवस्था में भाव अपने या दूसरों के प्रतीत न होकर अपरोक्षतया भासित होते हैं।''[4] *किन्तु यह तो भाषा मात्र की ही पूर्वापेक्षा है, जैसा कि हमने अनेक स्थलों पर दिखाया है। भाषा में 'मैं' पद तक सर्वनाम है। यह मानव-चेतना में अहंकार के प्रत्यय में रूपान्तरण और इस प्रकार सहज साधारणीकरण का द्योतक है। यदि काव्य में साधारणीकरण 'चिदावरणभंग का द्वार' है तो इस द्वार का उद्घाटन चेतना के आत्मचेतन होने के साथ ही हो जाता है, उसी से काव्य में भी होता है। काव्य में यह कोई उससे अलग और भिन्न प्रकार का नहीं होता।* इससे भावों का 'अपरोक्षतया भासन' कैसे होता है, इसका क्या अर्थ है, यह कहीं स्पष्ट नहीं होता। क्योंकि 'साधारणीकृत भाव' को बौद्ध पदावली में 'विकल्पव्यवहित' ही कहा जा सकता है और इस पदावली को पांडेजी स्वीकार भी करते हैं। साधारणीकरण चेतना के आत्मचेतन होने पर अनिवार्यत: घटित होता है और उसीसे भाषा की उत्पत्ति संभव होती है, इसमें काव्य की कोई विशेषता नहीं है। इस प्रकार ''अहं प्रत्यय की लौकिक तादात्म्य से विच्छिन्नता-जनित साधारणीकरण भाव की साधारणीकृत प्रतीति का हेतु'' तो होता है किन्तु यह भाव की तटस्थ विषय रूप में प्रापकता का हेतु भी होता है, जैसे 'इस दुःख से पता नहीं कब मुझे मुक्ति मिलेगी?' में काव्य की विशेषता विषयिता को उसकी विषयि-रूपता में अवगम्य बनाने में होती है। यह विषयिता केवल भाव की होनी ही आवश्यक नहीं है, यह विचार, संकल्प, विवेक या इनके अभाव और विपर्यास की भी हो सकती है। द्रष्टव्य है कि आत्मचेतन चेतना के लिए 'अहं प्रत्यय के विषय' का लौकिक तादात्म्य भी प्रत्यय-व्यवहित होता है, उसके लिए यह तादात्म्य कभी अव्यवहित नहीं होता। अव्यवहित तादात्म्य केवल पाशव चेतना में ही सिद्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहता है। इसी कारण 'मैं' का सर्वनाम के रूप में और इस प्रकार साधारणीकृत रूप में प्रयोग संभव हो पाता है। अहं के अहं-प्रत्यय रूप में गोचर (विषय) नहीं होने पर चेतना उससे तदात्म रहती है और वह (अहं) जीव की चेतना का अशेषत: नियामक रहता है। इस प्रकार रस को 'भग्नावरण चित्, अखंड और अद्वितीय' रूप में परिभाषित करने और काव्य में 'भावों का अपने या दूसरे की उपाधियों से मुक्त अपरोक्ष अवभासन' कहने में कोई औचित्य दिखायी नहीं देता, क्योंकि काव्य में भाव अपरोक्षत: अवभासित नहीं होते, अपरोक्ष तो वे अनात्मचेतन चेतना में घटित होने में ही होते हैं। उनका 'अपरोक्ष अवभासन' भावरूप में नहीं होकर भाव-प्रत्यय रूप में होता है जो प्रत्यय आत्मचेतन चेतना में ही आविर्भूत होते हैं। इनकी 'अपरोक्षता' इस बात में होती है कि ये वहाँ विषयता में इतर या पराक् नहीं होकर विषयिता में प्रत्यक् होते हैं। किन्तु यह प्रत्यक्ता विषयिता की–भावन, विचारण, संकल्प की–नहीं होकर इनके प्रत्ययों की होती है। किन्तु द्रष्टव्य है कि लोक में चेतना की सहज वृत्ति विषयपरक ही होती है, विषयिपरक नहीं। चेतना की इस वृत्ति में स्वयं अहं या अस्मत् भी हमें विषयरूप में ही उपलब्ध होता है, लौकिक विषयी रूप में नहीं। विषयी रूप में तो वह जीव का अतिक्रामी नियामक ही होता है। प्रत्यक् वह आत्मचेतन चेतना में विषय रूप में प्रस्तुत होकर उसके विषयी रूप में होता है। उसकी : विषयी की : विषय-रूपता उसकी पराकृता में उपलब्धि कही जा सकती है। यही पराकृतया अवभासित विषयी, भावों के समान ही, विषयि-प्रत्यय रूप में काव्य में अभिव्यक्ति पाता है। भावों की विषयिता-प्रत्यय रूप में उपलब्धि कैसे होती है यह किसी कविता के द्वारा समझना सरल होगा। मीरा की एक कविता का पद है—

> **पपीहा रे प्यारे, कब को वैर चितार्यो,**
> **मैं सूती छीं अपने भवन में, पीऊ पीऊ करत पुकार्यो।**

एक दूसरा पद महादेवी की कविता का लें—

> **धीरे-धीरे उतर क्षितिज से, आ वसन्त रजनी।**
> **तारकमय नव वेणी-बन्धन, शीशफूल कर शशि का नूतन,**
> **रश्मि-वलय सित घन-अवगुंठन,**
> **मुक्ताहल अभिराम बिछा दे, चितवन से अपनी।**

इनमें पहली कविता में कवि हृदय की पीड़ा से उद्वेलित है। यह तड़प उसे विषय रूप में भी उपलब्ध है, जिसके सम्बन्ध में वह यदि अन्य से कहता तो कहता कि वह किस प्रकार इस पीड़ा से पीड़ित है। किन्तु यहाँ वह इस विषय का कथन नहीं कर रहा है, बल्कि अपनी पीड़ा को ही उद्गीरित कर रहा है, किन्तु ऐसी पद-रचना के द्वारा जो इस पीड़ानुभव से यथासाध्य सम्यक् है। किन्तु यह पद-रचना, और अनुभूति से उसकी सम्यक्ता की जाँच इस अनुभूति के प्रत्यय रूप में रूपान्तरित होने पर ही हो सकती है। काव्य के लिए यह प्रत्यय अनुभूति की विषयिता में ही उपलब्ध रहता है। इस अनुभूति की विषय रूप में अभिव्यक्ति का रूप होगा—"प्रेम की पीड़ा से मेरा हृदय फटा जा रहा है", या "यह प्रेम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भी क्या आफत है जो इसने मुझे इतना बेचैन कर रखा है!" दूसरी कविता में रात्रि का मानवीकरण है। यहाँ कवि रात्रि के सौन्दर्य को देखकर भाव-विभोर होता है और उस भाव को एक रूप-रचना के माध्यम से व्यक्त करता है। यह रूप उसकी अनुभूति का बाह्य प्रतिबिम्ब बनता है, किन्तु यह प्रतिबिम्ब एक बार उत्पन्न होकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी ले लेता है। अब रजनी में नारि-सौन्दर्य सम्यक्तया रूपित भी होना चाहिए और उसके साथ ही उसे उस सौन्दर्यानुभूति से सम्यक् भी होना चाहिए जो अनुभूति इस बिम्ब के जन्म की बीज है। यहाँ जिस सम्यक्ता की रक्षा इसे सफल कविता बनाती है वह सम्यक्ता अनुभूत सौन्दर्य के रूप या गुण से है जिसका कवि प्रत्यङ्मुख होकर उसकी विषयिता में साक्षात्कार करता है। यह विषयिता संवेदनात्मक या आवेगात्मक नहीं होती, जिसकी अभिव्यक्ति किसी शरीर-क्रिया में (फिज़ियोलोजीकली) हो सकती है, बल्कि प्रत्ययात्मक होती है, जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का आश्रय लेती है।

काव्य-जीवित

काव्य का उपजीव्य क्या है, इसके लिए यदि काव्य-कृतियों को देखें तो हम पायेंगे कि ऐसा लगभग कुछ भी नहीं है जो काव्यों के रचना-काल के समाज के लिए मूल्यवान् है और वह काव्य का विषय नहीं है। कथा-साहित्य के पात्र मनुष्य होते हैं और कथा उन मनुष्यों का जीवन-वृत्त ही कहती है, और मनुष्य-जगत् में जो कुछ भी है वह आखिर मनुष्य की जीवन-कथा ही तो है! इसका वैशिष्ट्य केवल यह होता है कि यह मनुष्य की आत्म-कथा होती है, सब पात्रों का आत्म-वृत्त, जो काव्य-कृति के रूप में एक लोक का, एक जगद्व्यवस्था का रूप लेता है। इसे ही हमने विषयिवृत्तिकता कहा है—इस तरह दर्शन, शास्त्र या विज्ञान सभी कुछ काव्य के विषय हो सकते हैं, किन्तु केवल किसी पात्र के मनोलोक में घटित होने के पक्ष से। तब काव्य का जीवित सौन्दर्य को क्यों कहा जाता है? महादेवी की ऊपर उद्धृत 'वसन्त रजनी' कविता एक सौन्दर्य के साक्षात्कार को व्यक्त करती है किन्तु यह सौन्दर्य क्या किसी सत्य को पाने के साधन के रूप में प्रयुक्त होता है? **श्रीमद्भगवद्गीता** में एक सत्य के साक्षात्कार का संप्रेषण लक्षित है, किन्तु क्या वह इसके लिए किसी सौन्दर्य को साधन बनाती है? मुंशी प्रेमचन्द **गोदान** उपन्यास में भारतीय ग्राम-जीवन का दु:ख-दैन्य चित्रित करते हैं। उस उपन्यास की सफलता चित्रण की सत्यता और सत्य में पैठ की गहराई से ही आँकी जा सकती है, किन्तु क्या उसमें प्रेमचन्द किसी सौन्दर्य का किसी सत्य को सिद्ध करने के लिए उपयोग करते हैं? स्पष्टत: ऐसा कुछ नहीं होता। *किन्तु तब भी कहा जा सकता है कि काव्य में सत्य और सौन्दर्य दोनों ही साध्य होते हैं, किन्तु एक ऐसे अर्थ में जिस अर्थ में वे दोनों एक तीसरे तत्त्व–शिवत्व के साथ परस्पर अवियोज्य होते हैं।*[6]

'सत्य' का प्रचलित अर्थ किसी धारणा का किसी बाह्य वस्तु से प्रमाणित होना, अथवा कहें 'धारणा के अनुसार वस्तु की उपलब्धि' होता है। चेतना की विषयवृत्तिकता में सत्य का यही अर्थ होता है। किन्तु सृजन में सत्य का यह अर्थ नहीं होता, वहाँ सत्य का अर्थ स्वरूप की या आदर्श रूप की सिद्धि होता है। इसका उत्कृष्टतम उदाहरण जगत्-सृष्टि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हो सकता है (इसके लिए रैश्नलिस्टों से हम क्षमा-याचना करते हैं।) जगत्-सृष्टि इस कारण उत्कृष्टतम उदाहरण है क्योंकि इसका किसी प्रारूप से सम्यक् होना अपेक्षित नहीं है। ईश्वर के लिए इसका कोई प्रारूप होना संभव नहीं है। किन्तु तब भी इसका अपने आप में सम्यक् होना आवश्यक है, जो कि या तो यह पूर्णत: है अथवा न्यूनाधिक है। ईशोपनिषद् ने इसे पूर्णत: ही सम्यक् देखा है—"पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमदुच्यते।" किन्तु लाइब्नीज़ ने इसे ऐसा नहीं देखा, उसने इसे अनेक में से एक संभव रचना के रूप में ही देखा, चाहे अनेक संभव रचनाओं में सर्वोत्कृष्ट ही देखा हो। इसमें लाइब्नीज़ की दृष्टि ही युक्तिसंगत लगती है, क्योंकि कोई रचना अन्य प्रकारों की होने की संभावना के बिना नहीं हो सकती। किन्तु उपनिषद् की दृष्टि यह है कि यदि जगत् पूर्ण की सृष्टि है तो यह अपूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि सब सृजन आत्मसृजन ही होता है और पूर्ण का आत्मसृजन अपूर्ण और इस प्रकार अनेक में से एक संभावना का क्रियान्वयन नहीं हो सकता। किन्तु इस पर कहा जा सकता है कि तब यह सृजन भी नहीं हो सकता, क्योंकि सब सृजन आत्म-लाभ का, आत्म-क्रियान्वयन का उपक्रम ही होता है और स्वरूपत: पूर्ण (ईश्वर) के लिए कुछ लभ्य नहीं हो सकता। इस दुश्चक्र से निकलने का एक ही उपाय है कि जगत् को पूर्ण की सृष्टि नहीं मानकर अपूर्ण का आत्म-सर्जन ही माना जाय जो उसके अपने पूर्णता-लाभ का उपक्रम है और इस प्रकार जो उसके अपने से सम्यक् होने का उपक्रम है। किन्तु उपनिषदों ने इस पूर्ण को पूर्णता के आनंद की अभिव्यक्ति के रूप में देखा है, सृजन के रूप में नहीं। यह आत्मपूर्णता ही सत्य है जो साध्य है और यह सत्य अनिवार्यत: शिव और सुन्दर भी होता है : यह शिव है, क्योंकि यह आत्माभ्युदय का पर्यायवाची है, और सुन्दर है, क्योंकि आन्तर और बाह्य सब असौष्ठवों का निराकरण इसमें अनिवार्य है। इस लेख के आरंभ में उद्धृत कालिदास के श्लोक और पांडेजी की कविता में रूप-वर्णन ऐसे ही सत्य की ओर इंगित करते हैं—सुदक्षिणा की देह की कृशता उसके अन्तस् की न्यूनता के निराकरण की सिद्धि का प्रतिफल है और उसके अन्तस् में सिद्ध परिपूर्णता उसके नेत्र-वक्त्र-विकार के ऐसे सौष्ठव में प्रतिफलित है जिसमें इन्द्रियगोचर रूप स्वयं को गौण कर चित्तगत औदात्य का व्यंजक हो गया है। पांडेजी की कविता दर्शक के हृदय में सिद्ध सत्य के बाह्य रूपों में घटित ऐसे सौष्ठव का निरूपण करती है जिसमें बाह्य रूप उस अन्तस् के सौष्ठव के लिए संकेतमात्र रह जाता हैं।

किन्तु काव्य, या अन्य कलाएँ भी, जिस सत्य की सिद्धि को लक्षित करती हैं उसमें सत्य का साधारण अर्थ—धारणा की बाह्य वस्तु से प्रमाणितता—भी अभिप्रेत रहता है। काव्य—और अन्य कलाएँ भी—भाव में दृष्ट अर्थ, या कहें भावित अर्थ, से अभिव्यक्ति की सम्यक्ता की सिद्धि को भी लक्षित करती हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त वे भाव की अपने आदर्श से सम्यक्ता को भी लक्षित करती हैं। कालिदास के श्लोक में ये दोनों सत्य अत्यन्त प्रकृष्टतया सिद्ध हुए देखे जा सकते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्दर्भ

1. प्रकाशक – दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर।
2. इलाहाबाद संग्रहालय द्वारा 28-30 अक्तूबर, 2002 को इंडिया इंटर्नेशनल सेंटर, नयी दिल्ली में आयोजित गोष्ठी।
3. सड़क पर यह निबंध मैंने विद्यालय की किसी पाठ्य-पुस्तक में पढ़ा था। उसका शीर्षक शायद सड़क ही था। किन्तु यह रवीन्द्रनाथ के किस निबन्ध-संग्रह में है, इसका मुझे पता नहीं है।
4. साधारणीकरण और रस विषयक यहां उल्लिखित प्रतिपादन प्रो. गोविन्दचन्द्र पांडे की **महिलाएँ : गाहा-सप्तशती की नवीन प्रस्तुति** में से उद्धृत है जो प्रतिपादन अभिनव गुप्त और पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार है।
5. द्रष्टव्य - **समाज : दार्शनिक परिशीलन**, रावत प्रकाशन, जयपुर, 1992 अ. 1 तथा 4, तथा 'आत्म-चिन्तन' लेख, **उन्मीलन**, जुलाई, 2002 अंक एवं **तत्त्व-चिन्तन**, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, 2003, में संकलित।
6. द्रष्टव्य 'काव्य-तत्त्व' लेख, **काव्य-विमर्श**, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, 2004

❑

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुस्तक समीक्षा

काव्यविमर्श*

काव्यविमर्श शल्य जी के साहित्यविषयक निबन्धों का संकलन है। इनमें सत्रह निबन्ध, जिनमें एक काव्यतत्त्व पर हुई गोष्ठी का संवाद और दो प्रश्नोत्तर सत्र भी शामिल हैं, सैद्धान्तिक विवेचन के हैं, छह निबन्धों में किन्हीं पुस्तकों पर समीक्षाएँ हैं। अन्त में परिशिष्ट में शल्य जी की 15 कविताएँ भी संकलित हैं। निबन्धों में 'साहित्य और संस्कृति', 'साहित्य सौन्दर्य और संस्कृति : एक तात्त्विक विवेचन' (गोविन्दचन्द्र पाण्डे जी की पुस्तक की समीक्षा), 'भारतीय भाषा-चिन्तन, भाष्य और आलोचना की भाषा', 'कला और विचार : बोध के दो आयाम' (मुकुन्द लाठ की पुस्तक की समीक्षा), 'युगचिन्तन और साहित्यचिन्तन'—ये निबन्ध शल्य जी की अन्य पुस्तक **साहित्य चिन्तन और युगचिन्तन** में पूर्वपठित हैं। इसी तरह छह समीक्षाएँ भी इसी पुस्तक में पहले पढ़ी हुई हैं। इस पुस्तक में शल्य जी की पिछली पुस्तक से इतनी अधिक सामग्री का पुनः समावेश किया गया है, इसका उल्लेख पुस्तक में किया जाना चाहिये था। पिछली पुस्तक **'साहित्य चिन्तन और युगचिन्तन'** की मेरे द्वारा की गई समीक्षा **उन्मीलन** के ही जुलाई 1998 के अंक में प्रकाशित है। यह यहाँ स्मरणीय इसलिए है कि इन निबन्धों पर जो जिज्ञासाएँ या असहमतियाँ मैंने उस समीक्षा में रखी थीं, मेरे लिए वे अभी भी यथावत् हैं।

एक दार्शनिक का साहित्य की समीक्षा में पदक्षेप साहित्य के परिदृश्य में कितना उपकारक हो सकता है तथा चमत्कार कर सकता है—यह पुस्तक इसका सुन्दर उदाहरण है। संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में इस तरह का चमत्कार अभिनवगुप्त और पण्डितराज जगन्नाथ के अवतरण से होता है। अज्ञेय, गोविन्दचन्द्र पाण्डे तथा रमेशचन्द्र शाह और ज्योत्स्नामिलन इन चार रचनाकारों की जो समीक्षा शल्य जी ने की है, मेरी जानकारी और अध्ययन के अनुसार वैसी समीक्षा हिन्दी में और किसी के द्वारा नहीं की गई। वस्तुतः इन रचनाकारों की रचनाभूमि का उद्घात शल्य जी के द्वारा ही सम्भव था, क्योंकि उसके लिए जो दार्शनिक समझ अपेक्षित है उसका शल्य जी ने अपने काव्यविवेक के साथ इन रचनाकारों के भावन में गहराई से उपयोग किया है। अत एव शल्य जी की समीक्षाएँ इन रचनाकारों की जो समझ देती हैं वह कदाचित् अन्यत्र दुर्लभ है।

काव्यविषयक जिन सिद्धान्तों का शल्य जी ने यहाँ प्रतिपादन किया है वे निश्चय ही विचारणीय हैं। उनका सम्यक् अध्ययन होना चाहिये। वे जिस शब्दावली में विवेचित हैं,

---

* लेखक—यशदेव शल्य, प्रकाशक—दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर की ओर से राका प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष 2003, पृ.सं. 235, मूल्य 250/-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वह साहित्यशास्त्र की परिचित और स्वीकृत शब्दावली नहीं है। शल्य जी को पढ़ते हुए एक प्रश्न भी उपस्थित होता है कि साहित्यशास्त्र की पूर्वज्ञात पदावली किस सीमा तक अनुपादेय है कि बलात् उस पर एक अज्ञात शब्दावली का आरोप किया जाये? इन निबन्धों में कुछ वाक्य ऐसे हैं जिन पर सुबुद्ध विद्वानों के द्वारा उसी तरह टीका लिखी जानी चाहिये जिस तरह प्राचीन सूत्र ग्रन्थों पर भाष्य लिखे गये। दुर्भाग्य से, हिन्दी में ऐसी टीकाएँ लिखी जायेंगी–ऐसी सम्भावना नहीं दिखती।

शल्य जी की निम्नलिखित मान्यताएँ प्रारम्भ के निबन्धों में आती हैं–

(1) काव्य या साहित्य भावपरक हो यह आवश्यक नहीं है, वह विचारात्मक भी हो सकता है, जैसे भगवद्गीता। भावनात्मकता साहित्य का अवच्छेदक लक्षण नहीं है। (पृ. 9-10)

(2) भाषा या रचना की व्यंजकता 'अलौकिक साक्षात्कार को, उस की अलौकिकता को अक्षुण्ण रखते हुए, लोक में उतारती है।' (पृ. 11)

(3) कला या काव्य 'विषयिता का विषयिता' सामान्य के रूप में अवगमन है। विचार-प्रधान काव्य में भी विचार या विषय नहीं विचारक या विषयी केन्द्र में होता है। (पृ. 12-13)। इसी तरह भावनात्मक काव्य में भावनात्मक विषयिता रहती है (पृ. 14)।

यदि विषयी जीव अथवा आत्मा है, तो उसके विषयिता सामान्य के रूप में अवगमन का क्या यह अर्थ लगाया जाए कि साहित्य में व्यक्तिविशेष का व्यक्तिसामान्य के रूप में बोध होता है? तब शल्य जी का यह कथन साधारणीकरण का भिन्न पदावली में पुनः प्रस्तुतीकरण हुआ। यदि शल्य जी का मन्तव्य यह है कि रचनाकार अपने पात्रों को अपने से अलग अन्य व्यक्ति के रूप में नहीं देखता, वह उनके कर्तृत्व, भोक्तृत्व से तदात्म हो कर लिखता है, चाहे महाकाव्यात्मक कोटि की रचना हो या प्रगीत कोटि की, रचनाकार का निजी सुख-दुःख उसमें व्यक्त नहीं होता, तो यह बात अभिनवगुप्तादि ने बहुत विस्तार से काव्यरचना-प्रक्रिया का निरूपण करते हुए कही है। अभिनवगुप्त ने **ध्वन्यालोक** (1/5) पर अपने लोचन में वाल्मीकि की प्रथम काव्यरचना के उदाहरण के सन्दर्भ में कहा है कि यह मुनि का अपना शोक नहीं है, यह निर्मल चित्तवृत्ति से व्यंजित समय-निरपेक्ष शोक है।

पारम्परिक रसशास्त्र तल्लीनता व निमज्जन के सौन्दर्यशास्त्र में पर्यवसित होता है। साहित्य के पाठक की चेतना रस में द्रवीभूत या विगलित हो जाती है। रसिक या काव्य के भावक को काव्यास्वाद की स्थिति में विमर्श के लिए अवकाश नहीं रह जाता। आज का साहित्य चेतना के तन्मयीभवन और भावसिन्धु में निमज्जन को स्वीकार नहीं करता। रामचन्द्र शुक्ल ने रस-प्रतीति की मध्यमावस्था की बात की है, जिसमें भावक शीलदर्शन करता है। साधारणीकरण की व्याख्या में भट्टनायक और अभिनव ने इस मध्यमावस्था या शीलदर्शन की स्थिति का प्रतिपादन किया भी है। मेरे द्वारा द्वैतवादी सौन्दर्यशास्त्र प्रस्तावित किया गया है, कविता का पाठक या रसिक साक्षात्कार करता है, तब साक्षात्क्रियमाण विषय और साक्षात्कर्त्ता पृथक्-पृथक् होते हैं। शल्य जी का विचार अभिनवगुप्त आदि की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अद्वैतपरक व्याख्या, रामचन्द्र शुक्ल आदि की शीलदर्शन की स्थिति और द्वैतपरक सौन्दर्यशास्त्र से किस तरह भिन्न है—यह विचारणीय है। विषयी के विषयितासामान्यावबोध में विषयी और विषय का तादात्म्य होता है या नहीं, यदि होता है तो इस अवबोध में और अद्वैतपर्यवसायी रसशास्त्र में क्या अन्तर है? यह भी नहीं कहा जा सकता कि शल्यजीनिरूपित विषयितासामान्यावबोध में भावमूलकता अनिवार्य नहीं है, और अभिनवगुप्तादिप्रतिपादित रसशास्त्र में तो स्थायी भावादि निरन्तर अपेक्षित हैं, क्योंकि जब चैतन्यमात्र रहा तो स्थायी भावादि नहीं रहेंगे। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पारम्परिक रसशास्त्र में तो विभावादि का संयोग अपेक्षित है और शल्यजीनिरूपित विषयितासामान्यावबोध के लिए वह अपेक्षित नहीं है, क्योंकि विषयितासामान्यावबोध तक पहुँचने की प्रक्रिया विभावादिसंयोग से भिन्न और क्या हो सकती है?

शल्य जी जो काव्यरचना की व्याख्या (और काव्यास्वाद की भी) प्रस्तुत करते हैं उसमें संविद्विश्रान्तिसत्त्वभोग आदि शब्दावली नहीं है, आत्मचेतन चेतना है, द्वैत भी नहीं, भावावेश में पर्यवसान भी नहीं है। इस स्थिति का मोक्ष या निर्वाण से अन्तर यही है कि यह काव्यानुभवकाल में ही रहती है।

दूसरी ओर भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि प्रकाश और विमर्श से संवलित संवित् में आत्मसाक्षात्कार को रसानुभव कहते हैं। शल्य जी साक्षात्कार नहीं अवगमन कहते हैं। तब यह विचारणीय हो जाता है कि शल्य जी जिसे विषयिता का विषयिता सामान्य के रूप में अवगमन कह रहे हैं उससे पारम्परिक रसशास्त्र में भेद कहाँ हुआ, और पारम्परिक रसशास्त्र में जो विप्रतिपत्तियाँ उठती हैं वे ही शल्य जी के प्रतिपादन पर भी क्या नहीं उठतीं? अवगमन कहने पर अवगमनकर्त्ता विषयी और अवगम्यमान विषय इन दोनों को अलग-अलग मानना क्या ज़रूरी नहीं हो जाता? रसशास्त्र में काव्यानुभूति को आत्मसाक्षात्कार कहा गया है। साक्षात्कार में विषयी और विषय का भेद नहीं रह जाता। पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं कि रत्याद्यवच्छिन्न भग्नावरण चित् ही रस है, या चिद्विशिष्टरत्यादि ही रस है। अर्थात् रसास्वादकाल में (और काव्यरचनाव्यापार में भी) विषय चेतना में समाहित होता है या चेतना विषय में समाहित होती है। पूरी पुस्तक पढ़ने पर यह समझ में नहीं आता कि शल्य जी द्वारा निरूपित विषयिता का विषयिता सामान्य के रूप में अवगमन इससे किस तरह भिन्न स्थिति है? यदि यह कहा जाय कि भट्टनायक, अभिनवगुप्त और पण्डितराज के प्रतिपादन में काव्यरचना तथा काव्यानुभूति के समय अद्वैत में पर्यवसान है, तो क्या वह शल्य जी के विमर्श में नहीं है? यदि यह कहा जाय कि भट्टनायक आदि में यह साक्षात्कार भोगरूप, आनन्दरूप कहा गया है, तो शल्य जी का अवगमन क्या है?

(4) कविता में विषयिता किसी सामान्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत न होकर विशिष्ट आचरण के द्वारा व्यक्त होती है, वह सामान्य के लिए आधार प्रस्तुत करती है। शल्य जी की यह मान्यता साधारणीकरण की प्रचलित अवधारणा को नई व्याख्या देती है। पारम्परिक मान्यता में काव्य में विभावादि तद्देशतत्कालविशिष्ट ही चित्रित होते हैं पर भावना-व्यापार के द्वारा उनके वैशिष्ट्य का परिहार हो जाता है, यह परिहार भोग या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आस्वाद की भूमि पर ले जाता है। शल्य जी की व्याख्या में भोग या रसास्वाद की भूमि नहीं, वैचारिकता या भावनात्मकता के द्वारा विषयितासामान्यावबोध निर्मित होता है। वैचारिकता या भावनात्मकता का यहाँ विकल्प है। पारम्परिक रसशास्त्र में यह विकल्प नहीं माना गया, क्योंकि कविता या साहित्य के धरातल पर आ कर इन दोनों का विभेद और विकल्प समाप्त हो जाता है। वैचारिकता का निराकरण तो पारम्परिक रस-चिन्तन में कहीं किया ही नहीं गया है, उसे कविता में समाहित माना गया है।

शल्य जी यह स्वीकार करते हैं कि ध्वनि या वक्रोक्ति की व्यापक व्याख्या सम्भव है, जिसमें उनका विषयितासामान्यावबोध समाहित हो सके। पर ऐसी व्यापक व्याख्या इन सिद्धान्तों के प्रतिपादक आचार्यों ने नहीं की है (पृ. 20)। यह मान्यता पुनर्विचार्य है। उनका यह कथन संगत प्रतीत नहीं होता कि (पृ. 20) ध्वनि और वक्रोक्ति सिद्धान्तों के प्रतिपादकों ने "इन्हें व्यापक रूप में नहीं देखा, और इन्हें केवल भावना की अभिव्यक्ति तक ही सीमित रखा।" आनन्दवर्धन और कुन्तक दोनों ने प्रबन्धध्वनि और प्रबन्धवक्रता का विवेचन किया है। विचार या दर्शन सम्पूर्ण प्रबन्ध में किस प्रकार अनुस्यूत होता है, यह इस विवेचन से स्पष्ट है।

शल्य जी रसात्मकता, ध्वन्यात्मकता, वक्रात्मकता आदि को काव्य का एक पक्ष (आनुषंगिक या पक्षलक्षण) मानते हैं, काव्य में दार्शनिक अवबोध और वैचारिक उत्कर्ष को वे अपेक्षित मानते हैं, रसविचार उनके अनुसार भावना की अभिव्यक्ति तक ही सीमित है। (पृ. 20)। वे कहते हैं–"रस-सिद्धान्त काव्य को भावना तक ही सीमित करता है" (पृ. 34)–यह उसकी अपूर्णता है। इस तरह शल्य के साहित्य-चिन्तन में पारम्परिक रसशास्त्र और आधुनिक समीक्षा की तुलना में बल किधर जा रहा है–यह तो समझा जा ही सकता है। वे वैचारिक उत्कृष्टता को साहित्य की उत्कृष्टता का मानदण्ड मानते हैं, यह वैचारिक उत्कृष्टता भी ऐसी होनी चाहिये जो महाभारत में–"महाभारत में तो धर्मव्याधकौशिकसंवाद, यक्षप्रश्न, शान्तिपर्व में मनुष्यों के विभिन्न धर्मों (कर्त्तव्यों) पर विचार और सर्वोपरि, श्रीमद्भगवद्गीता आदि कितने ही गहन दार्शनिक प्रसंग हैं जो उसे एक अद्वितीय महाकाव्य बनाते हैं।" (पृ. 15) हर तरह की कविता में केवल भावों की उत्कृष्टता या गहराई ही नहीं, उसके साथ वैचारिक उत्कृष्टता भी होनी चाहिये।

यह मानना उचित नहीं है कि रस के विवेचन में वैचारिक अवबोध और दार्शनिक चिन्तन छूट गया है। भरतमुनि ने चारों वेदों से चार तत्त्व लेकर पंचम नाट्यवेद की रचना ब्रह्मा के द्वारा किये जाने की पुराकथा बताई है। इसके आगे वे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों और शम, दम आदि का भी ग्रहण नाट्य से होने की बात करते हैं। इस परम्परा में नाट्य यज्ञ रूप है। अभिनवगुप्त इसकी विशद व्याख्या में नाट्यावलोकन के समय प्रेक्षक किस प्रकार कृति या प्रस्तुति में अनुस्यूत विचार को ग्रहण करता हुआ चैतन्य को निर्मल बनाता है–इसकी प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हैं।

यदि विचार को बहिष्कृत करना होता तो आचार्य शान्त रस को स्वीकार क्यों करते?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चौथे निबन्ध 'काव्यतत्त्व-1' में ईशोपनिषत् के वचन "कविर्मनीषी परभूः स्वयम्भूः, याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" के अनुसार कवि की अवधारणा का विशदीकरण है। शल्यजी सत्य, शिव और सुन्दर में अद्वैत मानते हैं, उपिनषत् की परम्परा सत्, चित् और आनन्द की अखण्डता मानती है।

सामान्य बोध में वस्तुओं का विषयता पक्ष ही उद्घाटित होता है, कवि उनका विषयिता पक्ष उद्घाटित करता है। वस्तुओं का यह विषयितापक्ष उनका 'आन्तर मन' है, जो शल्य जी के अनुसार 'भावनामूलक कल्पना' से गम्य होता है। रसप्रक्रिया की साधारणीकरण से जुड़ी शब्दावली का निराकरण करते हुए भी यहां 'भावनामूलक कल्पना' शब्द तो आ ही गया है। अस्तु, शल्यजी का यह कथन महिमभट्ट आदि आचार्यों के विवेचन का समर्थन करता है। आचार्य महिमभट्ट ने वस्तुओं के दो रूप माने हैं–सामान्य और विशेष। सामान्य रूप तो इन्द्रियगम्य होता है, विशेष रूप कविप्रतिभा से गोचर होता है। शल्यजी इसको वस्तुओं की अन्तरात्मा का लोक कहना पसन्द करते हैं (पृ. 29)।

शल्य जी की इस तरह की अवधारणाएँ संस्कृत काव्यशास्त्रमें निरूपित कुछ सिद्धान्तों में गतार्थ हो सकती हैं, शब्दावली भिन्न है।

ईशोपनिषत् का कथन परम तत्त्व का निर्वचन करता है। शल्य जी ने उसे कवि पर लागू किया है, मन्त्र में कवि शब्द का प्रयोग होने से इस मन्त्र का विनियोग कवि और काव्य की व्याख्या के लिए विद्वज्जन करते आये हैं। मन्त्र में 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्'–कहा है। कवि भी कविता के द्वारा वस्तुओं को याथातथ्य रूप में आविर्भूत कर देता है।

आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने तो 'अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः' कह कर कवि की ईश्वर से समतुल्यता बताई है। शल्य जी ने उपनिषत् के मन्त्र की व्याख्या करते हुए इसके द्वारा अपने काव्यशास्त्रीय मन्तव्य को सुपुष्ट आधार दिया है। पर एक सीमा के बाद यह सुपुष्ट आधार टूट जाता है। "उपनिषद् और बुद्ध, नागार्जुन और शंकर तत्त्व को अनभिलाप्य, निर्गुण और निराकार कहते हैं, किन्तु काव्य और कलाएँ वाक्, गुणों और आकृतियों में ही अपना तत्त्व और सत्य पाती हैं" (पृ. 30)। शल्य जी के इस कथन पर असहमति हो सकती है। शंका होती है कि क्या उपिनषत् परम तत्त्व को निराकार कहते हैं? यदि वह अनिर्वाच्य और अनभिलाप्य है तो निर्गुण और निराकार कैसे हुआ? पर इस बहस को छोड़ दें, तो कविता में अध्यात्म का विवेचन करते हुए शल्य जी जब उन कविताओं के दृष्टान्त देते हैं जिनमें कविता गुणों और आकृतियों का निषेध कर होती है, तो प्रश्न होता है कि क्या यह कविता का ही निषेध नहीं है?

"घनानन्द, ग़ालिब, लाट्रिक या शरच्चन्द्र चित्त की किन्हीं गहरी तहों में वाल्मीकि, वेदव्यास या तुलसीदास होने अनिवार्य हैं, वह हुए बिना वे वह नहीं हो सकते थे जो वे थे–अर्थों के याथातथ्य के सर्जक और अवगाही तथा अनिर्वचनीय तत्त्व का शब्द, रूप और गुणों के लोक में साक्षात्कार करने वाले।"(पृ. 31) इस कथन में 'नानृषिः कविरित्युक्त ऋषिश्च किल दर्शनात्–भट्टतोत के इस बहुशः उद्धृत कथन की मार्मिक व्याख्या शल्यजी ने प्रस्तुत कर दी है।'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

केवल ऋषि भी रच नहीं सकता–अभिनवगुप्त कहते हैं। वे कहते हैं कि ऋषि भी हो, और उसके भीतर नारी भी हो–तब रचना हो सकती है। शल्य जी ने इस बात का बहुत विशद खुलासा किया है–"मानवहृदय में ही नहीं, जीवनमात्र और जड़ मात्र के भी अन्तर्मन में पैठ कर उनके हृत्स्पन्दन में परिस्पन्दित होना और साथ ही उससे उबर कर उसके सत्य का साक्षात्कार करना, कलाकार की कला इसी में अपनी चरितार्थता पाती है" (पृ. 31)।

उपनिषत्, भर्तृहरि और नागार्जुन आदि के चिन्तन का मनन कर के शल्य जी ने काव्यशास्त्र के नये प्रासाद की नींव रख दी है, पारम्परिक रसशास्त्र को उसमें से पहले ही बुहार कर बाहर निकाल दिया है, क्योंकि उनके अनुसार–"उसकी मूल भित्ति विभाव, अनुभाव और संचारी भाव और स्थायी भाव" पर टिकी है। यहाँ शंका होती है कि भरतमुनि ने भी नाट्य की उत्पत्ति चारों वेदों से बताई है, और उसमें रस अथर्ववेद से आया यह कहा है। उपनिषदों ने भी परमतत्त्व को रसस्वरूप कहा है। फिर भरतमुनि ने तो स्थायी भाव को रससूत्र में शामिल किया ही नहीं है, स्थायी भाव वहाँ क्यों नहीं है यह बाद के आचार्यों की समस्या है, उनकी नहीं। संसार के जो कारण, कार्य और सहकारी हैं वे काव्य में विभाव, अनुभाव और संचारी भाव होते हैं–इस तरह सारा संसार अपने अर्थों की विपुलता विविधता के साथ विभाव, अनुभाव और संचारी में समा जाता है–केवल स्थूल दृश्यमान् जगत् ही नहीं। शल्यजी जिसे आन्तर मन कहते हैं वह भी और जिसे वे विषयिता पक्ष कहते हैं वह भी। टी.एस. इलियट को विभावादि कितना विराट् विश्व समुपस्थित करते हैं इसका कुछ आभास था, यद्यपि उसने भरत आदि आचार्यों का अध्ययन किसी भी रूप में कदाचित् नहीं किया था। इसीलिए वह एक स्थान पर कहता है कि भारत के काव्यचिन्तन में विभाव जैसी कोई अवधारणा है, वह मननीय है। इतना विपुल विश्व काव्य में उपस्थित हो, तो रस की सम्भावना बनती है।

रस की अवधारणा की विपुलता पर विचार करते हुए शल्य जी ने प्रश्न उठाया है कि अभिनवगुप्त ने महाभारत को शान्त रस का महाकाव्य कहा है, किन्तु किन अनुभावों और संचारी भावों के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है? (पृ. 32) जहाँ शल्य जी इतने जागरूक रहकर लेखन करते हैं यह समझ में नहीं आया कि उन्होंने इस सवाल में विभाव को क्यों छोड़ दिया? इसके आगे जो प्रश्न को उन्होंने आगे बढ़ाया है उसकी तो आशा काव्यशास्त्र के किसी जानकार से कदापि नहीं की जा सकती–"कौन से संचारी भाव हैं जो उसमें नहीं हैं?" क्या रसविशेष के लिए काव्यशास्त्र में कोई संचारी भाव निर्धारित किये जा सकते हैं, आचार्य तो यही बताते हैं कि किसी भी रस के लिए किसी भी तरह के विभाव अनुभाव या संचारी भावों को निर्धारित किया ही नहीं जा सकता, अमुक रस के ये ये संचारी हो सकते हैं ऐसा समझाने के लिए भले कहा जाये। क्या सारे के सारे संचारी भावों का एक साथ आ जाना, बार-बार आना रस को रोक सकता है? आचार्यों की दृष्टि में यह रस की परम पोषक स्थिति भी हो सकती है। शल्य जी ने महाभारत की जटिल पृष्ठभूमि की बात की है, भरत मुनि और उनकी परम्परा की दृष्टि से यह रसव्यतिकर, रसविमर्द और सम्भेद या रससम्प्लव है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

महाभारत में शान्त रस अंगी है, शेष सब रस अंग—यह अभिवगुप्त का अपना मत नहीं है। उन्होंने ध्वन्यालोक पर अपने 'लोचन' में आनन्दवर्धन के मन्तव्य पर टीका करते हुए यह कहा है। महाभारत में शान्त रस क्यों अंगी है—इस पर विशद विचार करते हुए आनन्दवर्धन महाभारत में प्रत्येक प्रसंग की वैराग्य में परिणति और मोक्षपुरुषार्थमूलकता दिखाते हैं (ध्वन्यालोक 4/5 वृत्ति)। शल्य जी का भी यही अभिप्राय है, पर वे अपने निष्कर्ष पर रस विचार का निषेध कर के पहुँचते हैं। वे कहते हैं—"किसी एक प्रसंग को ही लें, जैसे द्रौपदी का चीरहरण। यहाँ विभाव क्या है, द्रौपदी के चीरहरण का दृश्य या प्रसंग? किन्तु वह अपनी पृष्ठभूमि से अलग कैसे किया जा सकता है? उस पृष्ठभूमि का मुख्य घटक द्यूतक्रीड़ा है या कि भीष्म, द्रोण आदि की विवश उपस्थिति, या कि दुश्शासन द्वारा द्रौपदी को निर्वस्त्र करने का प्रयत्न? या कि वह भयानक सड़ांध है जिसे महाभारतकार उस सारे सामाजिक पतन में से उठती दिखा रहा है? यह पृष्ठभूमि इतनी जटिल है कि वह प्रत्येक पाठक या दर्शक के मानसिक स्तर के अनुसार ही कल्पित होगी, वह भी अत्यन्त अनिश्चित रूप से।"(पृ. 33)

द्रौपदी का चीरहरण प्रसंग भी है और दृश्य भी है। उसमें वीभत्स और करुण रस हैं। भरतमुनि वीभत्स को मूल रसों में मानते हैं। अभिवगुप्त की दृष्टि से इस वीभत्स की शान्त रस में पर्यवसायिता हो सकती है। द्रौपदी के चीरहरण को उसकी पृष्ठभूमि से अलग नहीं किया जा सकता, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त भी ऐसा नहीं कर रहे हैं, बल्कि उस सारी पृष्ठभूमि को स्पष्ट समझते हुए वे शान्त की अङ्गता महाभारत में प्रदर्शित कर रहे हैं। द्रौपदी का चीरहरण और उससे जुड़े सारे प्रसंग—भीष्म, द्रोण आदि की विवश उपस्थिति, दुश्शासन द्वारा द्रौपदी को निर्वस्त्र करने का प्रयत्न, और वह भयानक सड़ांध, जिसे महाभारतकार उस सारे सामाजिक पतन में से उठती दिखा रहा है—यहाँ वीभत्स के विभाव बनते हैं। रस की पृष्ठभूमि इतनी ही जटिल हुआ करती है, यह आपने कैसे सोचा कि सरल पृष्ठभूमि से कुछ गुदगुदी पैदा करने वाली, कुछ विगलित करने वाली चीज़ तो रस होगी और जीवन की समग्रता से, संसार के महा हाहाकार से,अत्यन्त जुगुप्सित जटिल यथार्थ से उपजी चीज़ रस नहीं होगी? ऐसा मान लेना तो भरत से लगा कर बाद की सारी आचार्य-परम्परा के विपरीत होगा। यह उस उपनिषत् की परम्परा के भी विपरीत होगा जहाँ संसार की सारी जटिलत जिसमें लीन होती है वह परम तत्त्व रस है, और जिसके सन्दर्भ से शल्य जी ने अपन विवेचन आरम्भ किया है। यहाँ जिसे रस कहा जा रहा है वह वैरस्य की चरम सीमा पर जा कर अनुभव होने वाली वस्तु है।

भरत मुनि तो यही कहते हैं कि पृष्ठभूमि बेहद जटिल होने पर ही रस रस होता है। चूँकि रस की परिणति पुरुषार्थ के अनुभव में और पुरुषार्थ की प्रवृत्ति में होना भी आवश्यक है अतः विचार तो उसके साथ अवश्य रहेगा ही। यह भी सही है कि पृष्ठभूमि इतनी जटिल है कि वह प्रत्येक पाठक या दर्शक के मानसिक स्तर के अनुसार ही कल्पित होगी, वह भी अत्यन्त अनिश्चित रूप से।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मम्मट आदि आचार्य इसी परम्परा में भर्तृहरि आदि कवियों के उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि सुन्दर ललनाएँ, संसार की सारी विभूतियाँ–किस तरह शृंगार रस में भी विभाव हो सकते हैं, और ठीक ये ही शान्त रस के भी विभाव बन जाते हैं।

काव्य, नाटक आदि में विभाव, अनुभाव और संचारी भाव होते हैं–इस तथ्य का अपलाप तो कोई नहीं कर सकता। इन विभावादि के संयोग से काव्यानुभव होता है, इसको रसानुभव कहा गया। इस अनुभव की प्रक्रिया और निष्पत्ति अतिशय जटिल होने से पचासों आचार्यों ने इसकी पचीसों तरह की व्याख्याएँ की हैं। उन व्याख्याओं से मतभेद होना स्वाभाविक है। पर रस और रस सामग्री (विभावादि) को ही हटा देंगे तो मूल का ही नाश होगा। प्रकारान्तर से अन्यत्र शल्य जी रस की व्याख्याओं को ही अस्वीकार करते लगते हैं–"रस-सिद्धान्त का अस्वीकार मैंने काव्य को इससे परिभाषित करने के अर्थ में (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्) और रस को मनोवैज्ञानिक रूप में लेने के कारण किया है। अभिनवगुप्त की जो स्वयं की दृष्टि है, उस अर्थ में नहीं, यद्यपि उसमें भी उनकी 'संवित् विश्रान्ति' आदि प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पदावली मुझे उपयुक्त नहीं लगती।"(पृ. 54)

पुनः वही शंका उठती है कि शल्यजी जिसे विषयिता का प्रत्यय कह रहे हैं वह अभिनवगुप्तादि की संविद्विश्रान्ति से किस तरह भिन्न है? क्या केवल भोग, आनन्द,आस्वाद आदि शब्दों के प्रयोग के कारण अभिनवगुप्तादि का मत अस्वीकार्य हो जाता है? आनन्द और रस जैसे शब्दों का प्रयोग परम तत्त्व या ब्रह्म के पर्याय के रूप में उपनिषदों में हुआ है, और काव्यशास्त्र के आचार्यों ने माना है कि उन्होंने इन शब्दों से जुड़ी दार्शनिक चेतना के साथ ही इन्हें अपने शास्त्र में स्वीकार किया है। इसलिए आनन्द न यहाँ सुख का पर्याय हो सकता है, न भोग सांसारिक विषयभोग के अनुभव का। काव्यानुभव का आनन्द यदि लौकिक सुख से भिन्न है तो किस आधार पर?

आधुनिक प्रगतिशील समीक्षकों ने रस के सारे विचार को कचरे में फेंकने लायक इसलिए मान लिया कि वह कुछ द्रवित करने वाली, गुदगुदाने वाली, रिझाने-मनाने वाली वस्तु है। शल्य जी ने रसविचार को इसलिए अस्वीकृत किया है कि उसमें विचार की उपस्थिति नहीं है। ये दोनों ही छोर सत्य से दूर हैं।

'काव्यतत्त्व' लेखों पर हुई गोष्ठी में प्रस्तुत अपने मन्तव्य में मुकुन्द लाठ ने अलग तरह से शल्य जी के रस के अस्वीकार पर प्रश्न उठाया है। साहित्य में आत्मविश्रान्ति उतनी नहीं होती जितनी नृत्त, संगीत जैसी कलाओं में। इसलिए साहित्य से रस में अस्वीकार किया भी जाये तो इन कलाओं में तो उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। दूसरी ओर रस के अनुभव को सत्य के बोध से एकाकार भी मुकुन्द जी मानते हैं (पृ. 48)। यह अभिनवगुप्त सम्मत है।

इस सारी पृष्ठभूमि में यह सवाल भी उठता है कि रस, ध्वनि, वक्रोक्ति को अपर्याप्त मान कर शल्य जी इनके विकल्प में जो सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं, क्या उससे एक समग्र काव्यशास्त्र खड़ा किया जा सकता है?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाँचवें निबन्ध काव्यतत्त्व-2 में काव्यगंत सत्य, शिव, सुन्दर की व्याख्या है। काव्य में असत्य तथा कुरूप का निरूपण भी व्यंजना के द्वारा शिव, सुन्दर व सत्य को ही प्रस्तुत करता है।

सातवें निबन्ध 'काव्य का याथार्थ्य' में शल्य जी की साहित्य विषयक धारणा और स्पष्ट सामने आयी है। काव्य का यथार्थ उनकी दृष्टि में प्रत्ययात्मक है, वस्तुतः वह भौतिक जगत् का यथार्थ नहीं है, 'काव्य सीधे मूल प्रत्यय को ही लक्षित करता है' (पृ. 62)। रामायण का विषय राम का प्रत्यय—या कहें रामत्व है। गोदान उपन्यास होरी प्रत्यय का साक्षात्कार है। गीतिकाव्य में भी भावना की विषयिता ही प्रत्ययात्मक हो कर बिम्बित होती है (पृ. 63)। इस प्रत्ययात्मक यथार्थ और भौतिक जगत् के यथार्थ में क्या सम्बन्ध है? महिमभट्ट आदि ने इन्हें एक ही वस्तु के दो पक्ष माना है, और ये दोनों पक्ष परस्पर अविभाज्यतया संसक्त हैं। कविता में एक का निरूपण होगा तो दूसरा उसके साथ अनुषक्त होगा ही।

शल्य जी अभिनवगुप्त और भट्टनायक दोनों के मत को स्वीकार नहीं करते, पर वे इनके द्वारा व्यवहृत पदावली भोक्तृत्व, द्रष्टृत्व, साक्षात्कार का उपयोग कला के मूल्यबोध और कलानुभव को समझाने के लिए करते हैं। आठवाँ निबन्ध 'कला की मूल्य-दृष्टि' है। कला की मूल्यदृष्टि पुरुषार्थ में है, और ऐसे अर्थ जो पुरुष को उसके स्वरूप के अनुरूप बनाते हैं पुरुषार्थ हैं। स्वरूप के अनुरूप बनाते हैं—यह क्यों कहा गया? स्वरूप में प्रतिष्ठित करते हैं—यह कहा जाना चाहिये था। ज्ञान या विचारप्रतिपादन में विषयवृत्तिक विमर्ष होता है, कला में विषयिवृत्तिक। विषयवृत्तिकता क्या है? उनके अनुसार चेतना का अपने अर्थों को विषय रूप में प्रत्युपस्थित कर स्वयं द्रष्टा की भूमिका में अवस्थित हो कर सत्यावगाहन करना विषयवृत्तिकता है।

'दृष्ट रूप में विषयकृत अर्थों का साक्षात्कार और विमर्श तथा भोक्तृरूप में विषयिगत अर्थों का भोगित्व के पक्ष से साक्षात्कार और विमर्श - यह संगीत, चित्र, काव्य (में?)' वागर्थ की ही प्रतिपत्ति है (पृ. 72)। काव्य-रचना में कवि पात्रों की विषयिताओं में अन्तःप्रविष्ट हो कर उनसे तादात्म्य स्थापित क़रता है, इस समय वह 'उनके भोग का, उनकी भावनाओं का उनके भोगित्व और भावकता में अन्तःसाक्षात्कारी होता है' (वही)।

'विषयिता का भोक्तृचेतना में अर्थात्मक उन्मेष और उन अर्थों का उनकी अधिकाधिक विपुलता में साक्षात्कार और इस विपुल साक्षात्कार की इतनी ही विदग्ध (विपुल और सम्यक्) अभिव्यक्ति कला का यह निरपेक्ष निजी पुरुषार्थ या मूल्य कहा जा सकता है।'(पृ. 73)

''जिस कलाकार के लिए कला आत्मसाधना के लिए चर्या मात्र है, जैसे कबीर, मीरा, तुलसी या सूरदास के लिए, वहाँ उसका भोक्तृत्व उसकी निजी विषयिता का ही अनुध्यायी होता है'' (पृ. 76)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शल्य जी की इस पुस्तक का नवाँ निबन्ध ''अध्यात्म और कविता'' इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसके द्वारा पहली बार साहित्य में अध्यात्म या अध्यात्म की कविता पर व्यवस्थित चर्चा का सूत्रपात हुआ है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इसी शीर्षक से यह अध्याय लेख के रूप में **माध्यम** त्रैमासिक पत्रिका के जुलाई-सितम्बर 2002 के अंक में छप चुका है। इसी अंक में रामस्वरूप चतुर्वेदी का लेख ''अध्यात्म और कविता : आधुनिक कवियों का भक्तिकाव्य'' तथा रमेशचन्द्र शाह का लेख 'धर्म, अध्यात्म और कविता' भी प्रकाशित हैं।

अध्यात्म का लक्षण जब तक स्पष्ट न हो जाय तब तक इस पर विचार अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न करता है। यह एक गम्भीर विषय है। जब तक अध्यात्म किसे माना जाय यह स्पष्ट न हो जाय तो अपनी अपनी रुचि से कविता में सुधी जन अध्यात्म खोजते या निकालते रहेंगे, और अव्यवस्था तथा अनवस्था बनी रहेगी। माध्यम का ऊपर मैंने उल्लेख किया है, उसमें प्रकाशित चतुर्वेदी जी और शाह के लेख इस तरह की भ्रान्तियों को और बढ़ाते हैं।

चतुर्वेदी जी का लेख निराला के उस कथन से आरम्भ होता है जिसमें वे कहते हैं कि ''रवीन्द्रनाथ किसी भी तरह तुलसीदस के सामने नहीं टिकते।'' इसके आगे रवीन्द्रनाथ को छोटा बताने के लिए प्रयुक्त निराला की जो शब्दावली चतुर्वेदी जी ने सराहना के साथ उद्धृत की है वह सरस्वती के प्रति अपराध ही है (कवि और समीक्षक दोनों का)। जिसमें रवीन्द्रनाथ 'नपुंसक, मक्कामुखी मुसलमान, साधु समागम से सतर्क बचे, लण्डनमुख आदि हैं।' उनकी कविता 'यूरोप और भारत की खिचड़ी' है, जो यह मनोवृत्ति के साथ रची गई कि 'मसनद भी न छूटेगी, तकलीफ भी सहनी नहीं, और मुक्ति भी हाथोंहाथ।' निराला की दृष्टि में रवीन्द्रनाथ एक हाथ में पूँजीवाद और दूसरे में अखण्ड 'तत्त्वज्ञान' लेकर चलने वाले दाम्भिक बन जाते हैं, ''एक आँख से बीवी बच्चों से स्नेह और प्यार भी कर लेंगे और दूसरी से ब्रह्म को भी देख लेंगे—यह दर्शन रवीन्द्रनाथ का है।'' निराला के जो सद्वचन चतुर्वेदी जी ने प्रसन्न भाव से इस लेख में उद्धृत किये हैं वे रवीन्द्रनाथ को लेकर निराला और चतुर्वेदी दोनों के मन की कुण्ठा के परिचायक हैं। यह मैं यह समझ कर लिख रहा हूँ कि निराला उसी तरह कवि-ऋषि हैं जिस तरह कालिदास और रवीन्द्रनाथ। ऋषि भी कभी-कभी या अनेक बार स्खलित हो जाता है। वैदिक काल, उपनिषत्काल और उसके आगे पीछे के सब कालों में भी ऋषि जब तब कुण्ठाग्रस्त और अधःपतित होते रहे हैं, तो आज का एक बड़ा ऋषि अपेक्षाकृत अधिक जटिल प्रत्यवायों, प्रत्यादेशों से परिपूर्ण स्थितियों में कुछ कुण्ठाग्रस्त और स्खलित हुआ, इसमें आश्चर्य नहीं। उसकी कुण्ठा को सराहने और सहलाने वाले समीक्षक की बुद्धि पर आश्चर्य हो सकता है।

न तो रवीन्द्रनाथ केवल इसलिए अपराधी हो जाते हैं कि उन्होंने समृद्ध जमींदार परिवार में जन्म लिया और नोबल पुरस्कार भी पाया, और न तुलसीदास या निराला केवल इसलिए महान् कवि हो जाते हैं कि दोनों ने दरिद्रता में जीवन बिताया। तुलसीदास एक भक्ति कवि हैं। क्या अध्यात्म और भक्ति को अभिन्न कहा जा सकता है? इस सरणी पर चल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कर चतुर्वेदी जी ने तो निराला की 'वर दे वीणावादिनी' आदि कविताओं को भी कविता में अध्यात्म के अन्तर्गत विचारणीय मान लिया है। किसी देवी-देवता का नाम आ जाने से कोई कविता अध्यात्म की कविता नहीं हो जाती। निराला की वीणावादिनी निश्चय ही एक श्रेष्ठ कविता है, पर वह रवीन्द्रनाथ की ईश्वर से भारत में मुक्ति का स्वर्ग माँगने वाली कविता की तरह नवयुग के लिए नवस्वर माँगती है। कविता में अध्यात्म के उदाहरण के लिए चतुर्वेदी जी ने हिन्दी के और कवियों का स्मरण किया है–नरेश मेहता और शमशेर, यद्यपि दोनों आरम्भिक रचनाकाल में मार्क्स के चिन्तन को स्वीकार करते हैं तथा लम्बे समय तक साम्यवादी आन्दोलन से जुड़े रहे हैं। बाद में ये किस तरह अध्यात्म की ओर उन्मुख हुए हैं इसके उदाहरण के लिए शमशेर का यह उद्धरण है–'हरि मोरी आड़, हरिहि मोरि आड़/हरि मोरि झाँकी, हरिहि किवाड़।'

यहाँ यह मान लिया गया है कि अध्यात्म कविता में अलग से कोई तत्त्व है, जिसका संकर या संसृष्टि से सम्मिश्रण कविता में होता है। इस दृष्टि से चतुर्वेदी ने तो दर्शन और अध्यात्म को कविता का सबसे बड़ा शत्रु भी माना है और परम उपकारक भी। सावित्री महाकाव्य, रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड या कामायनी के अन्तिम तीन सर्गों की तरह जहाँ दर्शन और अध्यात्म कविता को आक्रान्त कर दे वहाँ वह कवित्व के शत्रु हो जाते हैं, नहीं तो वे उपकारक रहते हैं, जैसे रामचरितमानस या कामायनी के बाकी हिस्से में।

शाहजी ने अपने लेख में कविता में अध्यात्म के लिए अनेक योरोपीय कवियों का स्मरण किया है जैसे–रिल्के, एलियट, येट्स, मलार्मे, विलियम ब्लेक, कॉलरिज, वर्डस्वर्थ, शेली आदि। शाह रसपरक चिन्तन को आध्यात्मिक अनुभव की परिधि से निष्कसित नहीं करते, बल्कि वर्डस्वर्थ की रिज़ोल्यूशन एण्ड इण्डिपेण्डेन्स कविता उन्हें इस्थेटिक से कहीं अधिक गहरा अनुभव देती है। पर कविता के 'अद्भुत रसदर्शन' में 'आध्यात्मिक अनुभूति चरितार्थ' हुई है।

शाह अध्यात्म को गीता के आधार पर परिभाषित करते हैं, जो स्वभाव है, और भूतभाव अर्थात् जगद्भाव का विपरीतार्थक है। क्या अध्यात्म को धर्म, धार्मिक अनुभव, भक्ति से अलग कर नहीं देखा जाना चाहिये? शाह ने अपने लेख में धर्मानुभूति की चर्चा इस प्रसंग में की है।

क्या वेद ठीक इस अर्थ में अध्यात्म की कविता है? वेद में आधिभौतिक ऐश्वर्य–धनसम्पदा की कामना जितनी अधिक प्रकट की गई है उतनी बाद की किसी भी काल की किसी भी देश की कविता में नहीं की गई होगी। पर परम्परा यह मानती आई है कि वेद में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ सर्वत्र अनस्यूत हैं।

ऋग्भाष्य-टीका में जयतीर्थ कहते हैं–"ऋगर्थश्च त्रिविधो भवति - एकस्तावत् प्रसिद्धाग्न्यादिरूपः, अपरस्तावदन्तर्गतेश्वरलक्षणः, अन्योऽध्यात्मरूपः।" तब यह मानना होगा कि ये तीनों स्तर इस तरह एक-दूसरे से जुड़े हैं कि एक के बिना दूसरा नहीं हो सकता। तब बहुत उठापटक कर के ही किसी तरह प्रत्येक मन्त्र में आध्यात्मिक अर्थ निकाला जा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता है। यास्क निरुक्त (7.2) में कहते हैं–उच्चावचैरभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति। मन्त्रों में सर्वत्र एक से अभिप्राय नहीं हैं, उच्चावच अभिप्राय हैं।

शाह समाधि और स्वरूपावस्थान की उच्चतम भूमि को अध्यात्म और काव्य की, वाक् और अर्थ की एकीकृत भूमि मानने का प्रस्ताव करते हैं, जिससे 'उससे कुछ नीचे की चित्तभूमियों से निःसृत होने वाले काव्य में हम धार्मिक और आध्यात्मिक अनुभूति की न्यूनाधिक सक्रिय उपस्थिति पहचान सकते हैं।' सिद्धगुरु मंगत राम के मुख से समाधि अवस्था में अनायास निःसृत पदावली की चर्चा डॉ. सोमनाथ की पुस्तक के हवाले से की है।

क्या किसी रहस्यमय, दुर्बोध, सामान्य अनुभवों से सर्वथा भिन्न इन्द्रियातीत अनुभव का ही निरूपण करने वाली कृति को आध्यात्मिक कविता के दायरे में स्वीकार किया जाय?

शल्य जी का विवेचन निस्सन्देह चतुर्वेदी जी और शाह जी के प्रतिपाद्य से भिन्न है। यहाँ हम ने पूर्वोक्त दोनों समीक्षकों की चर्चा इसलिए की कि कविता में अध्यात्म को ले कर जो किस्म किस्म के वाद-विवाद उठाये जा रहे हैं उन पर विमर्श का उपक्रम हो। यह भी विचार किया जाये कि ईश्वर के प्रति समर्पण प्रकट करने वाली रचनाओं में सच्चा अध्यात्म है, या कवि के द्वारा जीवन और जगत् को अपने आत्म का अंग बना कर समग्रता का अनुभव देने वाली कृति में। निराला की वर दे वीणावादिनी आध्यात्मिक है या तोड़ती पत्थर या भिक्षुक जैसी कविताएँ?

पन्त का परवर्ती काव्य दार्शनिकता से बोझिल है। पर अरविन्ददर्शन में आस्थाशील लोगों को उसमें उत्कृष्ट काव्य नज़र आ सकता है। विष्णुकान्त शास्त्री जैसे सुधी समीक्षक इसीलिए इसके पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता बताते हैं।

शल्य जी का अपना निबन्ध एकदम स्पष्ट है, उसमें चतुर्वेदी जी के निबन्ध में मिलने वाली विसंगति नहीं है। पर उसका आरम्भिक अंश पढ़ कर न केवल खेद होता है, शल्यजी जैसे अधीती और मर्मज्ञ दार्शनिक से ऐसे मन्तव्यों की आशा भी नहीं की जा सकती जो उसमें रखे गये हैं। इस निबन्ध का आरम्भ एक शिकायत से किया गया है। "शान्तरस, जिसे आध्यात्मिक काव्य की आत्मा कहा गया, पहले तो रसों में गिना ही नहीं जाता रहा, बाद में जब कि गिना भी गया, तो वह दस रसों में से एक रस ही था और उसका वैसा महत्त्व नहीं था जैसा श्रृंगार का। श्रृंगार को रसराज कहा गया। इस रस के नाम पर जैसे ऐन्द्रिकतापरक काव्य की रचना संस्कृत और ब्रज भाषा में होती रही और उससे तत्कालीन सहृदय रसाप्लावित होते रहे, उसे देख कर आश्चर्य होता है। इसी से संस्कृत काव्य में आध्यात्मिक रचनाएँ लगभग नहीं मिलती हैं, सिवाय भगवद्गीता और महाभारत के कुछ स्थलों के और वाल्मीकीय रामायण के, जिसे एक सीमा तक धार्मिक काव्य कहा जा सकता है, और उस सीमा तक आध्यात्मिक भी" (पृ. 78)।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, संस्कृत काव्यशास्त्र में भोज ने श्रृंगार को महारस कहा था, पर वहाँ मात्र ऐन्द्रियपरक काव्य में निष्पन्न श्रृंगार से उनका आशय नहीं था। उन्होंने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शृंगार को अभिमान और अहंकार का समानार्थक मान कर सौन्दर्यवृत्ति और सोन्दर्यानुभूति के व्यापक अर्थ में उसकी रसराजता प्रतिपादित की थी। इसके अतिरिक्त संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रथम कोटि के किसी आचार्य ने शृंगार को रसराज कहा हो, मुझे स्मरण नहीं है। हाँ अभिनवगुप्त का मत अवश्य इस परम्परा में प्रतिष्ठित हुआ, जिसमें विस्तृत विवेचन करते हुए शान्तरस को महारस के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। अलग-अलग आचार्य अपनी अपनी दृष्टि से अलग-अलग रसों को मूल रस या महारस मानते आये हैं और उनकी अवधारणाओं के पीछे सुनिश्चित दार्शनिक मान्यताएँ रही हैं। भवभूति ने करुण को ही एक मात्र रस कहा था, आचार्य विश्वनाथ के पितामह नारायण, जिनका मत साहित्यदर्पण में उल्लिखित है,अद्भुत रस को महारस मानते थे। अभिनवगुप्त ने हास्य रस में समस्त रसों के पर्यवसान की मान्यता प्रतिपादित की है, और उसका सुस्पष्ट दार्शनिक आधार भी निरूपित किया है। ऐसी स्थिति में शृंगार को रसराज मानने वालों की कोई सर्वातिशयी परम्परा संस्कृत काव्यशास्त्र में बनी–ऐसा नहीं कहा जा सकता।

अभिनवगुप्त के कुछ समय बाद कल्हण ने कश्मीर में रह कर राजतरंगिणी लिखी। इसमें जीवन की विभीषिका, छल-कपट, त्याग, महा हाहाकार, शोषण–सबका इस बृहत्काय काव्य के रचनाकार ने निर्विकार होकर साक्षात्कार किया है। काव्य के आरम्भ में ही उसने घोषणा की है कि शान्त रस सभी रसों में मूर्धाभिषिक्त है।

परम्परा में अमुक कविता आध्यात्मिक है और अमुक कविता भौतिक है–इस तरह से कभी विचार नहीं किया गया। ऐसा विचार परम्परासम्मत हो भी नहीं सकता था। जब दृष्टि विभाजित हो, और अध्यात्म को भौतिक से अलग कर खोजना पड़े, तो कविता में अध्यात्म की चर्चा उठती है। तब तो यह भी बात उठने लगती है कि 'ऋग्वेद की बहुत सी काव्यात्मक ऋचाओं में' और यजुर्वेद और अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों में और इसी प्रकार यत्र तत्र उपनिषदों में आध्यात्मिक काव्य मिलता है (पृ. 78)।

क्या काव्य में अध्यात्म की यह खोज पश्चिम की मेटाफिज़िकल पोयट्री की अवधारणा से प्रेरित हो कर आई है? जहाँ आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक को साँचों के रूप में विभेद करके नहीं देखा जा सकता उस परम्परा में यह बात नहीं उठी कि अमुक काव्य इतने अंश में आध्यात्मिक है और इतने अंश में नहीं है।

वाल्मीकि रामायण को यदि एक सीमा तक आध्यात्मिक मान ही लिया गया है, तो इसकी परम्परा में रची गई सहस्रों रचनाओं को आध्यात्मिक काव्य की सीमा से बहिष्कृत कैसे किया जा सकता है? जैसे कालिदास का रघुवंश और भवभूति का उत्तररामचरित? शल्य जी ने संस्कृत साहित्य में ऐन्द्रिकतापरक काव्य की रचना और उससे तत्कालीन सहृदयों के रसाप्लावित होते रहने पर खेद प्रकट किया है। शृंगारपरक रचनाओं के समानान्तर उनसे कहीं अधिक संख्या में संस्कृत में स्तोत्रपरक, भक्तिपरक रचनाएँ हुई हैं। शंकराचार्य की सौन्दर्यलहरी और आनन्दलहरी की परम्परा में भी सैकड़ों काव्य रचे जाते रहे जिनमें सर्वथा भिन्न विश्वबोध है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दूसरी ओर शल्य जी स्वयं काव्य में अध्यात्म या आध्यात्मिक अनुभूति का जो स्वरूप प्रतिपादित करते हैं उससे उनके ऊपर के कथन मेल नहीं खाते—"किन्तु 'आध्यात्मिक अनुभूति' बहुत व्यापकतर पद और पदार्थ है, जो साधारण लौकिक प्रेमालम्बन में दिव्यता-दर्शन, प्राकृतिक सौन्दर्य में लोकोत्तर व्यंजकता, जगत् के होने या जगत् में भावक-विचारक के अपने होने की वस्तुस्थिति पर विस्मय, अस्तित्व मात्र की मौलिक अपर्याप्तता और आदर्श पर्याप्तता के साक्षात्कार इनमें से किसी भी रूप में हो सकता है।"(पृ. 79)

कविता में आध्यात्मिकता के इस निर्वचन के आधार पर अमरुशतक, जो ऐन्द्रिकतापरक काव्य का अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है, आध्यात्मिक काव्य का भी उतना ही उज्ज्वल उदाहरण कहा जायेगा, जो कि वह है भी। उसका तो पहला श्लोक ही प्रेमिका को विश्व के कण-कण में साक्षात्कार करने के अनुभव की अभिव्यक्ति से होता है।

दूसरा प्रश्न शल्य जी के विवेचन से यह भी उठता है कि किसी काव्य को कितनी सीमा तक धार्मिक काव्य माना जाय और कितनी सीमा तक आध्यात्मिक काव्य? वाल्मीकि रामायण किस अंश में धार्मिक ही हैं, किस अंश में कहीं-कहीं आध्यात्मिक? यदि ईश्वर की आराधना, भक्तिभाव को धार्मिक काव्य का स्रोत माना जाय, तो वाल्मीकि रामायण में तो ऐसा भाव मूलतः कहीं है ही नहीं, वह तो केवल मनुष्य की कथा कहता है। आनन्दवर्धन ने जितने विशद विवेचन से महाभारत में शान्त रस की प्रधानता की बात कही है उतने विशद विवेचन के साथ उन्होंने यह स्थापना भी की है कि वाल्मीकि की रचना में करुण रस अंगी है। जब भवभूति या आनन्दवर्धन कविता में करुण रस की अंगिता की बात करते हैं तो वे मनुष्य के उस महाभाव की बात करते हैं जो अपनी प्रकृति में अध्यात्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उत्तररामचरित में सीता और राम का प्रेम इसी महाभाव पर प्रतिष्ठित है। यही महाभाव बाणभट्ट की कादम्बरी में पिरोया हुआ है।

कविता में अध्यात्म किंवा अध्यात्म की कविता का सबसे सुन्दर उदाहरण, जितना साहित्य मैंने पढ़ा है, कुमारसम्भव का आठवाँ सर्ग है। निसर्ग से ऐसी एकाकारिता, निश्छल निश्तवच होकर महाभाव की भूमि पर अधिरोहण का ऐसा उत्तम उदाहरण दुर्लभ है।

शल्य जी के अनुसार आध्यात्मिक काव्य मनोमयकोश से ऊपर उठ कर विज्ञानमय कोश में अवस्थित होकर रचा जा सकता है (पृ. 81)। कवि अपनी चेतना में देवत्व का साक्षात्कार करता है, प्रकृति में भी दिव्यत्व देखता है। अधिकांश कविता मनोमय भूमि से रची जाती है, जैसे कि रघुवंश की रचना लोकोन्मुख मनोमय भूमि से हुई है।

'कोई काव्य आध्यात्मिक तभी कहा जा सकता है जब उसमें व्यक्त विचार या भावना आध्यात्मिक हो, और उस विचार या भावना का विषय लोकोतर हो' (पृ. 83)। अध्यात्म चेतना की लोकोत्तर स्थिति है, और आध्यात्मिक चेतना काव्य को उत्कृष्टतर बनाती है (पृ. 85)।

शल्य जी ने कल्पना का विवेचन काव्य के सन्दर्भ में किया है, वह उनकी दार्शनिक दृष्टि का काव्य की व्याख्या में उत्तम विनियोजन है, जहाँ वे "शांकर या नागार्जुनीय दृटि को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काश्मीर शैव दृष्टि और भर्तृहरि की शब्दब्रह्मदृष्टि की पूरक के रूप में'' (पृ. 16) ग्रहण करते हैं। यह पूरकता कैसे सधेगी—यह इस विवेचन में स्पष्ट नहीं हो सका है। काव्य कल्पनालोक की अयथार्थता का निवारण करने का प्रयत्न करता है। कल्पना ही भ्रान्तियों का जाल रचती है और वही इन्हें तोड़ती है। भ्रान्ति-निवारण की प्रक्रिया कविता में दो तरह से सध सकती है—एक तो 'सम्यक्ता के उत्तानीकरण' के द्वारा और दूसरे 'उपलब्ध असम्यक्ता की प्रखरता' दिखला कर सम्यक्ता को व्यंजित करके। पहली प्रक्रिया का उदाहरण शल्यजी ने वाल्मीकि की रामायण को माना है, दूसरी का महाभारत को। पर इन दोनों सम्यक्ताओं के अतिरिक्त काव्य की अपनी भी सम्यक्ता होती है।

इस संग्रह का दसवाँ निबन्ध साहित्य और संस्कृति शीर्षक से है। इसे ले कर कुछ मन्तव्य मैंने **उन्मीलन** जुलाई 1998 के अंक में रखा था। अध्यात्म और कविता शीर्षक निबन्ध में काव्य-रचना में कवि की चेतना के स्तरों—मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश आदि की चर्चा की गई है। यहाँ शल्य जी ने इन स्तरों को संस्कृति से भी सम्बद्ध किया है। मनोमय स्तर में विषयाभिमुखता भी हो सकती है और विषयातिक्रामिता भी। यह दूसरी स्थिति सांस्कृतिक अवस्था कही जा सकती है (पृ. 88)। यह अर्थ-भुवनों के साक्षात्कार की स्थिति है, और मोक्ष या संन्यास की तीसरी स्थिति की ओर उन्मुख होती है। किस प्रकार अर्थ-वैपुल्य की सृष्टि होती है—इसके श्रेष्ठ उदाहरण अज्ञेय हैं। इस निबन्ध में शल्य जी ने कवि के लिए आत्मप्रतिष्ठित, आत्मप्रामाणिक और आत्म-अव्यवहित भाव की कसौटी रखी है। शल्य जी अज्ञेय को उस भूमि पर देखते हैं जिस पर 'सृष्टि देवतत्व से अभिनिविष्ट और हृदय ईश्वरतत्त्व की सन्निधि में' (पृ. 93) है। उन्होंने अज्ञेय के इस दिव्य भाव और ईश्वरीय बोध के उदाहरण स्वरूप 'भीतर जागा दाता' शीर्षक कविता का उदाहरण दिया है। इस कविता में कवि के भीतर दाता जागता है, और वह सागर और धरती को देने की बात कहता है। शल्य जी की परिभाषा में यह 'यज्ञतत्त्व के साक्षात्कार का नवसाक्षात्कार' है।

इस कविता और शल्य जी के द्वारा उसके विवेचन पर प्रश्न उठते हैं। यज्ञतत्त्व के साक्षात्कार के भी नवसाक्षात्कार से क्या आशय है? किसी अन्य के साक्षात्कार का कवि के द्वारा पुनः साक्षात्कार है तो यह कवि का अपना साक्षात्कार नहीं हुआ, यह एक आरोपित और कृत्रिम साक्षात्कार कहा जायेगा, सहज नहीं। मेरे भीतर जागा दाता और मैंने तुम्हें ... दिया कविता के ये कथन यज्ञतत्त्व के साक्षात्कार के सूचक हैं या अपने दाता होने के अहं भाव की अभिव्यक्ति? यज्ञ में आहुति देता हुआ अपने अहं को विसर्जित करता है, अपने पास की वस्तुओं को देवों को अर्पित करता है। यह इन्द्र आदि का है, मेरा नहीं, ऐसा कहने में मेरी कोई वस्तु है, और मैं दे रहा हूँ, ऐसा भाव नहीं आता, जो अज्ञेय की कविता में आ गया है। यहाँ तो कवि पंच महाभूतों को अपनी निधि मान कर उन्हें किसी को दे रहा है। यह कहा जा सकता है कि यह दाता स्वयं ईश्वर है, कवि इससे एकाकार हो गया है, और यह कविर्मनीषी ईश्वर सारी सृष्टि को मानवता के लिए दे रहा है, तब दाता और देय पृथक् पृथक् हो जाते हैं और शल्य जी का यह कथन उचित नहीं लगता कि इस कविता में 'वस्तुमात्र में ईश की व्याप्ति और उससे उपजे तादात्म्य के भावन की ऐसी अभिव्यक्ति अन्यत्र अलभ्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होगी' (पृ. 93)। इसी कविता का प्रतिबिम्ब शल्य जी ने अज्ञेय की 'उधार' कविता को माना है। पहली कविता में जो दाता है, वह यहाँ ग्रहीता बन जाता है। 'उधार' कविता में ईशावास्योपनिषत् के 'मन्त्र में व्यक्त आर्ष साक्षात्कार कवि की अनुभूति में अपने अर्थों के वैभव का समृद्ध और स्फुट प्रत्यक्ष करता दिखाई देता है।'

अज्ञेय की 'चिड़िया' शीर्षक कविता वैखरी वाक् में तत्त्व की अनभिलाप्यता और परावाक् में उस तत्त्व के आत्मप्रकाशन के अर्थ का अद्भुत विमर्श (पृ. 94) है। कविता में चिड़िया देखती है कि वह केवल चिड़िया है, अन्त में चिड़िया भी नहीं रह जाती, कवि भी नहीं रह जाता। पर इस निःशेष होने में, सन्नाटा भर रह जाने में कविता भी समाप्त हो जाती है। क्या शून्य के साक्षात्कार में कविता हो सकती है? व्यंजना अर्थ की विपुलता के लिए आधार होनी चाहिये। आर्थी व्यंजना में अर्थ की विपुलता के ये आधार वक्ता, बोद्धा, प्रकरण, वाक्य, वाच्य आदि आचार्यों ने बताये हैं। केवल चिड़िया–कह देने से अर्थ की विपुलता के आधार नहीं बनते। वाच्य आधिभौतिक है, लक्ष्य आधिदैविक, तो व्यंग्य आध्यात्मिक। इसका विस्तृत विवेचन मैंने अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम् में किया है। बिना वाच्य के न लक्ष्य सम्भव है न व्यंग्य। अनेक आधुनिक कवियों की रचनाएँ, जिनमें सन्त्रास, विभीषिका है, वे चिड़िया जैसी रचना से अधिक आध्यात्मिक हो सकती हैं।

ग्यारहवाँ निबन्ध गोविन्दचन्द्र पाण्डे की **साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति** पुस्तक की समीक्षा है। पाण्डेय जी की दृष्टि से शल्य जी की दृष्टि में जहाँ भेद है उसका आभास इस समीक्षा में अच्छी तरह हो जाता है। हमारे समाज और वर्तमान परिस्थितियों में पश्चिमीकरण व पाश्चात्य प्रभाव को ले कर शल्य जी अधिक सचेत हैं, यह समीक्षा इस दृष्टि से बहुत महत्त्व की है कि पाण्डे जी की पुस्तक में किये गये चिन्तन के आगे जो छूट गया है, उसको यह इंगित करती है।

बारहवें निबन्ध में 'कथा, मिथक और यथार्थ' की तारतमिकता पर विशेष विचार है। मिथक पश्चिम से आई हुई नृतत्त्वशास्त्र से सम्बद्ध अवधारणा है। जनसाधारण जिन मिथकों की जिन कथाओं को वास्तविक समझते हैं नृतत्त्ववैज्ञानिक उन्हें काल्पनिक मान कर विश्लेषण करते हैं। इसी तरह अद्वैत वेदान्त, शून्यवाद और विज्ञानवाद में उस लोक को काल्पनिक माना गया है जिसे जनसाधारण या ये कथित वैज्ञानिक वास्तविक समझते हैं। "इस प्रकार विज्ञानसम्मत और साधारणजनसम्मत लोक भी मिथकीय हो जाते हैं, और मिथकीय लोक भी वैसे अयथार्थ नहीं रहते जैसे नृतत्त्व विज्ञानी इन्हें समझते हैं" (पृ. 110)। इन मन्तव्यों पर दो प्रश्न उठते हैं। जनसाधारण या आदिम जन-जातियाँ जिन मिथकीय कथाओं को वास्तविक समझती हैं उनकी वास्तविकता की अवधारणा क्या है? क्या वे इहलोक की वास्तविकता और मिथकीय लोक की वास्तविकता में अन्तर नहीं समझते? दूसरे, वेदान्त में जिसे व्यावहारिक सत्ता कहा गया है, और बौद्धों ने जिसे संवृति सत्य कहा है, क्या वह काल्पनिक ही कहा जायेगा? यदि व्यावहारिक सत्ता और संवृति सत्य काल्पनिक माने जायें तो क्या यह कल्पना ठीक उसी अर्थ में है जिस अर्थ में नृतत्त्वशास्त्री आदिम जातियों की मिथक कथाओं को काल्पनिक समझते हैं?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैसा मैंने ऊपर कहा है, शल्य जी प्रकारान्तर से अनेक स्थलों पर रसशास्त्र के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण की आकर्षक व्याख्या करते हैं। कथा में साधारणीकरण हो जाता है, शल्य जी के शब्दों में 'अघटित घटना विषयक होना व्यक्तियों और उनके क्रियाकलापों को नियत देशकाल और वास्तवता या विशिष्टता की उपाधियों से मुक्त कर चेतना के शुद्ध अर्थों के लोक में प्रतिष्ठित कर देता है।' आगे का वाक्य भी साधीरणीकरण की व्याख्या करता है–'कथा आदि में चेतना वस्तु को खोये बिना ही उसे विशेष की उपाधि से मुक्त कर उसका उसके सामान्य आकार में साक्षात्कार कर पाती है' (पृ. 112)। यहाँ नवीनता इस बात में है कि रसशास्त्र के विचार में आचार्यों ने भावक की दृष्टि से ही साधारणीकरण पर अधिक विचार किया है, शल्य जी उसे रचनाप्रक्रिया और रचना के आन्तरिक सत्य की व्याख्या के लिए भी लागू करते हैं।

तेरहवाँ निबन्ध 'भारतीय भाषाचिन्तन, भाष्य और आलोचना की भाषा' शल्य जी की पूर्वचर्चित पुस्तक में भी छपा है, और उन्मीलन में प्रकाशित समीक्षा में पहले मैं इस पर लिख चुका हूँ। शल्य जी ने उचित आगाह किया है कि भारतीय चिन्तन या इस तरह की शब्दावली का प्रयोग करते ही हमारे मानस में प्राचीन भारत में हुए चिन्तन का ही विचार आता है, यह उपनिवेशवादी मानसिकता के कारण है। शल्य जी ने इस मानसिकता पर बहुत बेलाग हो कर अच्छी टीका की है। उन्होंने बौद्धों, नैयायिकों के भाषाविषयक चिन्तन को सार रूप में प्रस्तुत करते हुए भर्तृहरि के विवर्तवाद से सहमति प्रकट की है (पृ. 1160-18)।

शल्य जी का भाष्य का भाष्य महत्त्व का है। "भाष्य का वास्तविक विषय चेतना के अतिचैत्त अर्थ होते हैं, जो शब्दों के अन्तरालों में आभासित होते हैं। भाष्य इन अतिचैत्त अर्थों को भाषा के द्वारा मानसिक स्तर पर प्रकट करने का प्रयत्न करता है" (पृ. 122)। यहाँ पुनः शल्य जी ने चेतना के विविध स्तरों की चर्चा करते हुए भाष्य या भाष्यकार के प्रकार्य पर विचार किया है। शब्द के वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य इन अर्थों की चर्चा काव्यशास्त्र में की जाती है। शल्य जी ने उसके अवरमानसिक, मानसिक और अतिमानसिक या विज्ञानमय स्तर पर खुलने वाले अर्थों की बात करते हुए भाष्य का काम यह माना है कि वह शब्द के अन्तर में निहित आदर्श लोक में पैठ कर मनोमय स्तर पर उसके अर्थ को खोलता है। यह आदर्श लोक विज्ञानमय या अतिमानसिक लोक है (पृ. 123)।

आलोचना विषयिता के उन्मेष का परीक्षण या प्रेक्षण है। इसमें विषयिता प्रेक्ष्य में रूपान्तरित हो जाती है। प्रेक्ष्य में रूपान्तरित विषयिता की शब्दात्मक अभिव्यक्ति आलोचक द्वा सुपर्णा के दो पक्षियों से भिन्न तीसरे पक्षी के समान है, जो आस्वाद भी लेता है और प्रेक्षावान् भी होता है। संक्षेप में काव्यालोचक का विवेच्य विषयितापरक होता है, पर अभिवृत्ति विषयपरक होती है (पृ. 126)।

शल्य जी के अलंकार को लेकर किये गये विवेचन से सहमत नहीं हुआ जा सकता। वे कहते हैं कि गजगामिनी, चन्द्रमुखी आदि में तो अलंकार मानना उचित है पर 'आरती करती वाक्, झलमलाता ज्योतिषचक्र' जैसी पंक्तियों में उत्प्रेक्षा अलंकार कहना ठीक नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह उन्होंने इस भाव से लिखा है मानो कविता में उत्प्रेक्षा या उपमा बताना इतनी उत्कृष्ट कविता की अवमानना हो। स्थिति उलटी है। गजगामिनी, चन्द्रमुखी आदि कविता के अलंकार नहीं हैं, ये मात्र बोलचाल की भाषा के प्रयोग हैं, आचार्य जब उपमा के उदाहरण में ऐस प्रयोगों को उद्धृत करते हैं तो केवल समझाने के लिए, अन्यथा उपमा के लिए यह अनिवार्य माना गया है कि पूर्वविदित साम्य का कथन करने से कविता की उपमा नहीं बनती। साम्य उद्भावित होना चाहिये। अलंकार क्या है?—काव्य की सम्पूर्णता ही अलंकार है। आधिभौतिकादिदैविकाध्यात्मिकविश्वत्रयसमुन्मीलनपुरस्सरं भूषणवारणपर्याप्त्याधाय-कत्वमालङ्कारत्वम् (**अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्**, 2/1/2) इस लक्षण के अनुसार भूषण, वारण और पर्याप्ति इन तीन स्तरों पर अलङ्कार की प्रक्रिया कविता में सम्पन्न होती हे, जिससे आधिभौतिकादिदैविकाध्यात्मिकविश्वत्रयसमुन्मीलन होता है।

रूपक, उत्प्रेक्षा आदि ऐसे अलंकार हैं जो महाकाव्य और प्रबन्धात्मक रचनाओं के प्रतिमान भी निर्मित करते हैं। सम्पूर्ण कालजयी कृति की पीरक्षा, समीक्षा एक एक अलंकार के द्वारा हो सकती है। शल्य जी कहते हैं—'सारा उपन्यास अघटित घटनाओं को घटितवत् कहता है।' यह सारे प्रबन्ध में भाविक अलंकार पिरोये होने पर हो सकता है।

चौदहवें और पन्द्रहवें निबन्ध भी शल्य जी की पूर्वप्रकाशित पुस्तक में पहले छपे हैं। पहला, 'कला और विचार : बोध के दो आयाम' मुकुन्द लाठ की **संगीत एवं चिन्तन** पुस्तक की समीक्षा है। अगला निबन्ध 'युगचिन्तन और साहित्यचिन्तन' है। पश्चिम की आप्तता में विश्वास और उससे अभिभूत होना एक छोर है, दूसरा अपने अतीत का महिमा मण्डन। शल्य का लेख दोनों के विरुद्ध चेतावनी है। सार यह कि साहित्यकार का प्रेरणा-स्रोत युग नहीं आत्मा होना चाहिये, जिसमें युग अपनी छवि देखे। (पृ. 149)

अक्षरपर्व पत्रिका के सम्पादक के प्रश्नों के एक उत्तर में शल्य जी ने भक्तिदृष्टि के नवोत्थान की सम्भावना पर इंगित किया है। उनके अनुसार नेहरू की अपेक्षा विवेकानन्द और पाण्डुरंग शास्त्री आठवले को हमारे समय का नायक होना चाहिये था।

पन्द्रहवें निबन्ध 'युगचिन्तन और साहित्यचिन्तन' में उन्होंने अज्ञेय की कविता 'असाध्य वीणा' में **तथागतगुह्यसूत्र** में तथागत के शून्यरूप के वर्णन की उपजीव्यता इंगित की है। इस विवेचन से यह प्रतिमान उभरता है कि 'विचार विषयता प्रत्यय का ग्राहक होता है और कला विषयिता प्रत्यय की, संगीत में विषयिता प्रत्यय की शुद्धता अपनी पराकाष्ठा में होती है' (पृ. 138)।

शल्य जी कविता और दर्शन में परस्पर उपकार्योपकारक भाव का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। कवि यदि दार्शनिक हो तो उसकी कविता अधिक उत्कृष्ट हो सकती है, दार्शनिक यदि कवि हो तो उसका चिन्तन अधिक उत्कृष्ट हो सकता है (पृ. 157)। यहाँ यह शंका हो जाती है कि दार्शनिक शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया गया है? निश्चय ही पश्चिमी चिन्तन में फ़िलासफी और फ़िलासफर के जो आशय हैं उनके अर्थ में शल्य जी यहाँ दर्शन और दार्शनिक शब्द का प्रयोग नहीं कर रहे हैं। तब फिर यहाँ दार्शनिक शब्द का प्रयोग उस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ में लिया जाना चाहिये जिस अर्थ में ऋषि शब्द का प्रयोग परम्परा में किया जाता है। भट्टतौत ने कहा है कि जो ऋषि नहीं, वह कवि हो ही नहीं सकता, और ऋषि को ऋषि इसलिए कहा जाता है कि उसके पास दर्शन है। फिर कवि दार्शनिक भी यदि हो तो उसकी कविता उत्कृष्ट हो सकती है–ऐसा कहना वदतोव्याघात हो जाता है। कविता और दर्शन में उपकार्योपकारकभाव सम्बन्ध मानना पड़ता है, जो भट्टतौत की कवि-ऋषि की अवधारणा से या शल्य जी ने ही ईशोपनिषत् के मन्त्र के आधार पर जिस कविर्मनीषी का स्वरूप निरूपित किया है, उससे असंगत हो जाता है। कविता अपने आप में दर्शन ही है, उसे अपनी उत्कृष्टता और अपने प्रामाण्य दोनों के लिए उसके बाहर के किसी दर्शन की अपेक्षा नहीं। शल्य जी ने दार्शनिक कविता को आज के सन्दर्भ में विशेष समीचीन और आवश्यक माना है। ऐसा दो कारणों से है–एक तो आज का कवि पुराने प्रतिमानों के फीके पड़ जाने के प्रति जागरूक हुआ है, दूसरा विज्ञान ने परम्परागत दृष्टि को चुनौती दे कर जीवनदृष्टि के महत्त्व के प्रति हमें सचेत कर दिया है।

पारम्परिक प्रचलित प्रतिमानों की अस्वीकृति हर युग के काव्य में होती रही है। शल्य जी ने अपने कथन की पुष्टि के लिए अज्ञेय और पाण्डे जी के काव्य से जो उदाहरण दिये हैं (पृ. 171) उनकी तुलना में और गहरी विरक्ति, अधिक गहरा मोहभंग और संशय व्यक्त करने वाले उदाहरण भर्तृहरि, योगेश्वर आदि प्राचीन कवियों के काव्य से दिये जा सकते हैं।

पुस्तक में शेष छह निबन्ध पुस्तक-समीक्षाओं के हैं, इनमें आधुनिकता, दर्शन और कविता में गोविन्द चन्द्र पाण्डे जी के **अग्निबीज** तथा **क्षण और लक्षण** की, एक हँस चेतना की काव्य रचना में पाण्डे जी की ही **हँसिका** की, मुक्त प्रत्यक्ष का काव्य रमेशचन्द शाह की **नदी भागती आयी** शीर्षक कवितासंग्रह की, ''एक नवागत कविमनीषी का स्वागत'' में अमिता शर्मा के कवितासंग्रह **शालभंजिका** की 'एक गगनविहारिणी की अन्तर्कथा' में ज्योत्स्ना मिलन के उपन्यास **अ अस्तु का** की तथा **'पूर्वापर : भारतीय चेतना का एक औपन्यासिक बिम्ब'** रमेशचन्द्र शाह के उपन्यास की समीक्षा है। ये समीक्षाएँ भी पूर्वपठित हैं।

पाण्डे जी के कवित्व को शल्य जी ने इस दृष्टि से सराहनीय माना है कि उनमें आधुनिक ज्ञानविज्ञान और अनुभव के परिचय से परिष्कारित बुद्धिजन्य संवेदना को अभिव्यक्ति मिली है (पृ. 167)। पाण्डे जी के काव्य से जो पंक्तियाँ शल्य जी ने उद्धृत की हैं उस तरह की उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं और अभिव्यक्तियों वाली पंक्तियाँ शिवमंगलसिंह सुमन, नरेश मेहता आदि अन्य कवियों में भी मिल जाती हैं। इन कवियों से पाण्डे जी के कवित्व में वैशिष्ट्य क्या है यह स्पष्ट नहीं हो पाता। पाण्डे जी के अन्य समकालीन कवियों को प्रसंगानुसार विचार का विषय बनाया नहीं गया है। अज्ञेय के काव्य पर किये विवेचन की ही तरह शल्य जी की पाण्डे जी की कविता का सूक्ष्म विवेचन भी विवेच्य कवि के व्यक्तित्व, उसकी दार्शनिकता समझने में एक सीमा तक सहायक है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शल्य जी अलंकार आदि को अपनी समीक्षा में जगह देते नहीं लगते। वे यह कह कर कविता को सराहते हैं कि इस कविता में कोई अलंकार नहीं बताया जा सकता—यह इसकी विशेषता है। उदाहरण के लिए गोविन्दचन्द्र पाण्डे की कविता पृ. 178 पर उद्धृत है—

"आसमान पर एक सार/सिलेटी, धूमिल चिकना/पत्तों पर धुल कर हरा/दमकता निखार/जमीन पर भूमि परत/धुलती फैली आर्द्र/हर्ष की एक लहर/सिन्धु के जल सी हरी/डुबाती सूखा तट/शिलाएँ अचल उदास/हवा बिखेरती रेत/अन्यमनस्क हरित श्याम के बीच/रहती मौन" (पृ. 178)।

इस कविता पर विवेचन करते हुए शल्य जी ने कहा है—'समीक्षक के लिए कुछ बताने को यहाँ नहीं है, न अलंकार, न उक्ति-वैचित्र्य, न वैदग्ध्य प्रदर्शन के लिए किसी प्रकार का कोई अन्य आयोजन। यहाँ केवल अनाविल स्वच्छ चेतना द्वारा प्रकृति का शुद्ध सुखानुभव ही है जिसे स्वयं व्यक्त होने दिया गया है—अर्थात् संवेदातीत साक्षात्कार।'

यह तो ठीक उसी रसानुभूति की परिपूर्ण व्याख्या है जिसका आधे अंश में अस्वीकार और आधे अंश में स्वीकार शल्य जी ने इस पुस्तक में बार-बार किया है। अभिनवगुप्त आदि मानते हैं कि रसास्वाद काल में शुद्ध चैतन्य और शुद्ध सुखानुभव ही रह जाता है। विभावादि चैतन्य से पृथक् नहीं रह जाते। यदि प्रकृति के शुद्ध सुखानुभव में प्रकृति को साक्षात्क्रियमाण और चैतन्य को साक्षात्कर्त्ता मानेंगे तो अद्वैत नहीं बनेगा, जबकि शल्य जी अद्वैतपरक काव्यानुभव के पक्षधर भी हैं।

आनन्दवर्धन ने अलंकारप्रयोग के जो मानक बताये हैं वे इस काव्यांश पर लागू होते हैं। अलंकार अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य होना चाहिये। बिना आयास के वह निर्मल चैतन्य में सहज चला आया हो।

जहाँ अलंकार झलक उठे, वहीं अलंकार नहीं माना जाता। सही अर्थ में तो अलंकार वही है जहाँ कविता की पूरी संरचना में वह इस तरह एकमेक हो जाये कि पृथक् से कहीं उसकी विचित्रता न मालूम हो। आचार्य अपनी मीमांसा में इसे अलग करके जो देखता है वह विवेचन के सौकर्य के लिए है। अन्यथा अलंकार कविता का अविभाज्य तत्त्व है। यदि संवेदातीत साक्षात्कार ही मात्र कथ्य है तो कविता पर लेख लिखने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

अतः शल्य जी के द्वारा किये गये अज्ञेय आदि के विवेचन से यह प्रश्न उठता है कि तथागतगुह्यसूत्र या नागार्जुन का मध्यमकशास्त्र पढ़ कर कोई उसे कविता में ढालने का जतन करे तो वह कविता का अध्यात्म कहा जायेगा? कविता का अध्यात्म आधिभौतिक और आधिदैविक की सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित हो कर ही खरा उतर सकता है, उनसे विमुख होकर नहीं। इसलिए जीवन के सारे कलुष और कर्दम, हत्या, छल, बलात्कार, जुआ, चोरी आदि के यथातथ्य चित्रण के बाद शूद्रक का मृच्छकटिक अध्यात्म के जिस धरातल पर पहुँचता है वह सच्चा अध्यात्म है, अज्ञेय की कविता में चिड़िया का कहना कि मैं बस चिड़िया हूँ—यह अध्यात्म नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पृ. 190 पर शल्य जी ने प्रसाद और अज्ञेय की तुलना में रमेशचन्द्र शाह की कविता के तारतमिक विशेष की अच्छी मीमांसा की है। शाह की कविता शल्य जी के साहित्य के प्रतिमान पर अधिक खरी उतरी है। यह बात अलग है कि केवल लहर के काव्यांश के आधार पर सर्वत्र प्रसाद की अपेक्षा शाह में सार्वभौम कवित्व अधिक है ऐसा नहीं कहा है। समीक्षा खण्ड में जिन कवियों उपन्यासकारों की समीक्षा की गई है उनके साथ तो पूरा पूरा न्याय हुआ है, पर तुलना के लिए जिन साहित्यकारों का हवाला दिया गया है उनके साथ अन्याय हुआ है, क्योंकि समीक्ष्य रचनाकार की विशेषताएँ बताते हुए शल्य जी महान् रचनाकारों का प्रायः उन कोणों पर स्मरण करते हैं जहाँ उनमें समीक्ष्य रचनाकार की वे विशेषताएँ नहीं मिलतीं। अतएव शाह की समीक्षा में शाह प्रसाद और अज्ञेय से कम से कम अपनी कुछ कविताओं में तो उत्कृष्टतर सिद्ध कर दिये गये हैं।

पृ. 191 पर शाह जी की कविता की व्याख्या में व्यंजना की अपार सम्भावनाएँ उन्होंने देखीं है।

पूर्वापर उपन्यास में शल्य जी ने भारतीय आध्यात्मिक जीवन का नितान्त प्रामाणिक निरूपण (पृ. 206) पाया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने **आरोग्य निकेतन** का भी स्मरण किया है, यह मानते हुए कि **पूर्वापर** उपन्यास ताराशंकर वन्द्योपाध्याय के **आरोग्य निकेतन** की अपेक्षा सर्वतोन्मुखी चिन्तन प्रस्तुत करता है। पुनः वही प्रन उठता है कि अध्यात्म की जो व्याख्या **पूर्वापर** के प्रसंग से की गई है वह कहाँ तक ग्राह्य है? क्या बंसी के पिता अध्यात्म का जो रूप सामने रखते हैं वह सच्चा अध्यात्म है, जहाँ शल्य जी के शब्दों में "यह लोक अतिलोक का एक बाह्य आयाम मात्र हो?" शल्य जी ताराशंकर बनर्जी के **आरोग्य निकेतन** का स्मरण करते हैं, गणदेवता का नहीं।

शल्य जी का साहित्यविषयक चिन्तन और समीक्षाएँ इस दृष्टि से भी अद्वितीय हैं कि उनमें शेक्सपीयर जैसे कवियों का भारतीय परम्परा और मूल्यबोध से उपजे मानकों के द्वारा आकलन करने का संरम्भ तेजस्विता के साथ प्रकट हुआ है। रस और ध्वनि सिद्धान्तों के आधार पर शेक्सपीयरादि के आकलन का प्रयास तो रायन्, कण्टक आदि अंग्रेज़ी के प्राध्यापकों द्वारा किया जाता रहा है, दूसरी ओर यूरोप के प्राच्यविद्याविशारद कालिदास की समीक्षा ग्रीक नाट्यशास्त्र और ग्रीक काव्यशास्त्र के आधार पर करते रहे हैं। शल्य जी ने कहीं-कहीं भारतीयेतर कवियों पर जिस धरती पर अवसित हो कर दृष्टिपात किया है वह अन्य किसी ने कदाचित् नहीं किया।

पुस्तक के अन्त में शल्य जी की कविताएँ हैं। ये उनके दर्शन के अनुरूप हैं।

पृ. 53 पर कालिदास अज में पैठ कर दमयन्ती के विरह के उत्ताप को देखते हैं—यहाँ दमयन्ती के स्थान पर इन्दुमती शब्द होना चाहिये था।

राधावल्लभ त्रिपाठी
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
सागर विश्वविद्यालय,
सागर (म. प्र.)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तत्त्व-चिन्तन

शल्य जी का वह कथन जिसमें वे अपनी अधिकांश रचनाओं के लिए 'वैदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष' विशेषण का प्रयोग करते हैं, समीक्षा हेतु प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। सर्जक प्रकृति के इस लेखक की कृति में व्यक्त होने वाले प्रातिभ-प्रतिपादनों की पृष्ठभूमि में उनके दो चैतसिक प्रयास स्पष्ट परिलक्षित होते हैं : विभिन्न सम्प्रत्ययों के सृजनात्मक अर्थ का पूर्वग्रहरहित अव्यवहित रूप में साक्षात्कार तथा उपलब्ध शास्त्रीय एवं वैचारिक परम्परा में उनके द्वारा किया जा रहा सतत समालोचनात्मक अवगाहन। नदी के जल में डूबकर स्नान करते हुए भी उसके जल का तटस्थ निरीक्षण करने की क्षमता इस लेखक में है। प्रथमदृष्ट्या इस प्रकार के मौलिक लेखन की, जिसमें 'प्रत्यङ्मुख चेतना के सृजनकारी उन्मेषों में दृष्ट अर्थ' के परिप्रेक्ष्य में अनेक दार्शनिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक व कलापरक अवधारणाओं, परम्पराओं व सिद्धान्तों की सहज समीक्षा घटित हो रही हो, समीक्षा शास्त्रीय विचार-व्यवस्था के अन्तर्गत रचित किसी पुस्तक की समीक्षा-हेतु स्थापित प्रारूप या मानदंडों के आधार पर करना अनुपयुक्त प्रतीत होता है। प्रस्तावित कार्य तब और भी दुष्कर हो जाता है जब समीक्ष्य रचना में शास्त्रीय विवेचन की अपेक्षा अन्तःप्रज्ञा के स्तर पर सृजित व अनुभूत प्रातिभ प्रतीति के वे अर्थोन्मेष अधिक हों जिनका परिनिष्ठित उद्देश्य 'रूढ़ि तोड़ने' की अपेक्षा 'विषय को उसके स्वरूप में देखने की सहज प्रवृत्ति (प्राक्कथन)' में निहित हो। पश्यन्ती के स्तर पर उद्भूत विचार-बिम्ब को वैखरी के स्तर पर समीक्षा का विषय बनाना एक उपयुक्त परम्परा नहीं कही जाएगी, विशेष रूप से तब जब लेखक दृष्ट अर्थ की सटीक अभिव्यक्ति के उद्देश्य से पारम्परिक रूप में उपलब्ध शब्द-योजना या पद-प्रारूप तक सीमित न रहते हुए अतिक्रामी रूप में नवीन भाषागत प्रतीकों का भी सृजन करे। (द्रष्टव्य–'दृष्टि और शब्द का युगपद् उन्मेष', पृष्ठ-163) मेरी दृष्टि में तो अन्तःप्रज्ञा सम्पन्न कलाकार, साधक व दार्शनिक की कृति या अभिव्यक्ति की समीक्षा शाब्दिक विश्लेषण, यौक्तिक संगति-असंगति, विषयवस्तु के प्रबन्धन इत्यादि शास्त्रीय आधारों पर करना सृजन व मूल प्रातिभ दृष्टि के साथ अन्याय करना है। किन्तु विडम्बना तो यह है कि कोई ऐसी दृष्टि से सम्पन्न मनीषी ही यदि इस प्रकार के अनधिकृत कार्य के लिए आदेशित करे तब क्या किया जाए? मेरी यहां कुछ ऐसी ही विडंबनापूर्ण स्थिति है।

अस्तु। शल्य जी की प्रस्तुत कृति के शाब्दिक मनकों से गुज़रने वाले उस तार या धागे को पकड़े रहना ही अब मुझ जैसे अनाड़ी समीक्षक के लिए अवलम्ब हो सकता है, जो उनके दर्शन का सर्वथा असमीक्ष्य एवं आलोचना से परे आधारभूत तत्त्व है। यह मर्मभेदी

लेखक–यशदेव शल्य, प्रकाशक-दर्शन-प्रतिष्ठान, जयपुर के लिए राका प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष 2003, पृ.सं. 195, मूल्य : 200/-रु.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संयोजक तत्त्व है–चेतना की सृजनात्मक प्रत्यङ्मुखता। 'सत् के अव्यवहित सान्निध्य में रहने वाले' 'आत्म नियामक और आत्मोन्मुख सर्जक' या 'चेता (द्रष्टव्य : **मूल्यतत्त्व मीमांसा**, पृ. 6)' की किसी विकीर्ण रचना की समीक्षा तो क्या, मात्र उसे समझने के लिए भी उक्त प्रत्यङ्मुखता मूल सन्दर्भ है। जहाँ एक ओर शल्य जी अपने एक पूर्व ग्रंथ, **सत्ता विषयक अन्वीक्षा**, को एक निबन्ध तथा उसके विभिन्न अध्यायों को अनुच्छेद मात्र मानने को उद्यत हैं (**सत्ता विषयक अन्वीक्षा**, पृ. 7), वहीं दूसरी ओर, विविध आयामी निबन्धों के संग्रहरूप में ग्रथित प्रस्तुत पुस्तक के प्राक्कथन में वे स्वीकार करते हैं कि इस पुस्तक को 'निबन्ध-संग्रह' से अधिक 'ग्रन्थ' कहा जा सकता है। सम्भवत: ऐसा इसलिए कहा गया हो कि सभी निबन्धों में एक सारभूत अन्तर्ग्रथन है एवं तदनुसार ये सभी सत्रह निबन्ध कहीं-कहीं स्वतन्त्र विषयों के प्रतिपादन प्रतीत होते हुए भी प्रत्यङ्मुख चेतना के सृज़नात्मक तत्त्वानुसन्धान की यात्रा में आने वाले सार्थक पड़ाव जैसे हैं। प्रश्नोत्तर रूप अट्ठारहवाँ अध्याय स्वतन्त्र विषय पर रचित लेख न होते हुए भी शल्य जी के अधिकांश कृतित्व व व्यक्तित्व को 'मुड़कर देखने' का एक प्रयास है, और इसी अर्थ में प्रस्तुत ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान करता है।

पाठक के मन में प्रथम उन्मीलन शल्य जी के 'दर्शन और उन्मीलन' नामक निबन्ध से प्रभावी होता है। इस लेख में 'उन्मेष' या 'उन्मीलन' का अर्थ 'सत्य के ज्ञापक' के रूप में स्पष्ट किया गया है। जगत् या सृष्टि विषयक आद्य चित्त के उन्मेष से लेकर दर्शन,काव्य व विज्ञान के क्षेत्र में विभिन्न देश काल में उत्पन्न अनेक जिज्ञासाओं व प्रतिफलित अनुसन्धानों के प्रातिभ-उन्मेषों के यथार्थ हमारी चेतना को उसकी प्रत्यङ्मुखता में ही उपलब्ध होते हैं।

चार पृष्ठों में सीमित यह लेख विषयगाम्भीर्य के परिप्रेक्ष्य में विशद विवेचन की अपेक्षा रखता है। प्रकाशक तो मानो इसे और भी छोटा करना चाहता था, सम्भवत: इसी कारण उसने पृष्ठ-11 में ही अगले निबन्ध का शीर्षक 'फ़ोलियो' में नियमविरुद्ध रूप में दे दिया है। जितनी भी सामग्री है, गहन है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि इसमें मानो शीर्षभूत 'एवरेस्ट' को जानने से सुविस्तृत हिमालय के स्वभाव का मौलिक व सूत्रात्मक बोध हो जाता है।

'सत् की चिन्मयता' विषयक लेख के प्रथम पृष्ठ की पादटिप्पणी में शल्य जी ने अपने मत को 'संकर' कहे जाने की आशंका व्यक्त करते हुए वस्तुत: उसके नितान्त मौलिक होने का ही संकेत दिया है। यहाँ तक तो ठीक है, लेकिन आगे इसी सिलसिले में शल्य जी का स्वयं को 'दर्शन के इतिहास की जानकारी बहुत कम' (पृष्ठ-13) प्राप्त व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करना एक सर्वथा अनुपयुक्त कथन प्रतीत होता है। मुझे याद आता है, कहीं पढ़ा था, महर्षि अरविन्द ने अपने साधनागत क्षणों में उपलब्ध कतिपय विलक्षण प्रातिभ अनुभूतियों के विषय में लिखा है कि उस समय तक उन्होंने वे वैदिक ऋचाएँ नहीं पढ़ी थीं जिनमें कालान्तर से उन्होंने उन्हीं अनुभूतियों या अर्थनुभूति का सांकेतिक वर्णन पाया। वस्तुत: प्रातिभ अनुभूतियाँ साधना व योग की अनिवार्य अपेक्षा नहीं रखतीं। चेतना के प्रत्यङ्मुखी प्रातिभ अवगाहनों में अतल सत्यानुसन्धानों के परिप्रेक्ष्य में न जाने ऐसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कितने अनुभूति-वृत्त व सृजनात्मक दृष्टि-सोपान आते होंगे जिनके या जिनमें से कुछ के संकेत दर्शनशास्त्र के इतिहास में आर्ष दृष्टि के रूप में पहले से ही दर्ज हों। शल्य जी उस इतिहास से परिचित थे, हैं या नहीं, यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु तत्सम्बन्धी दृष्टि का बोध उन्हें उस समय अवश्य था। उनकी किसी आध्यात्मिक साधना विशेष से संलग्नता का ज्ञान मुझे नहीं है, किन्तु प्रातिभदृष्टि से समाविष्ट उनके विचारक्रम को साधनाप्रसूत आगमिक पृष्ठभूमि में देखने का मोह मैं नहीं छोड़ पाता। म.म. गोपीनाथ कविराज का यह कथन यहाँ प्रासङ्गिक प्रतीत होता है जिसके अन्तर्गत वे कहते हैं कि बोधभूमि या अतिक्रान्त बौद्धिकता को उपलब्ध चेतना ही उस सत्य दृष्टि की जनक होती है जो आर्ष अनुभूति के यथार्थ को व्यक्त कर सके (**अन्तर्यात्रा**, पृ. 25-26)। यहाँ सत्य दृष्टि के जनकत्व या जन्मदाता की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। पश्यन्ती नामक वाग्भूमि का उल्लेख मैंने साभिप्राय किया था। कविराज के अनुसार 'बोधात्मक परज्ञान' ही 'वागात्मक अपरज्ञान' या शब्द (बैखरी) पर आरूढ़ होकर अर्थ-प्रकाशन में प्रवृत्त होता है (**तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त**, पृ. 34)। वस्तुतः चेतना की स्वाभाविक सक्रियता, जो उसके विमर्शात्मक या प्रत्यङ्मुखी होने में निहित है, अनेक सृजनात्मक एवं स्वातन्त्र्यमूलक निहितार्थों की जननी होती है। इस दृष्टि से देखें तो शल्य जी के कुछ प्रतिपादनों एवं आगमिक मान्यताओं में किंचित् समानाधिकरण्य है।

'जगत् चिन्तन' नामक लेख में शल्य जी ने एक नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थापित किया है : 'इस जगत् से मुक्ति में पुरुषार्थ क्या है?' जब चेतना अपनी विपन्नता एवं एकाकीपन के निवारण की कामना से जगत्-भाव में प्रवर्तित हुई है तो क्या मुक्ति की बात 'दृष्टि विपर्यास' नहीं है? (पृष्ठ 38) प्रश्न गम्भीर है। विवेचन अपेक्षाकृत कम किया गया है। फिर भी, शल्य जी ने स्वयं ही इसका समाधान भी प्रस्तुत किया है। 'आत्मचेतन चेतना प्राकृतिक भाव में प्रदत्त जगत् से असन्तुष्ट होकर, अथवा कहें, उसे जागतिक प्रयोजनों के लिए अपर्याप्त पाकर उपकरणों, विज्ञानों और कलाओं आदि की सृष्टि करती है और आगे इस जगत् से असन्तुष्ट होकर जगत्-भाव के निरसन, उससे मुक्ति को पुरुषार्थ रूप में देखने का औचित्य बनता है, ऐसा कहा जा सकता है (पृष्ठ 39)'। पर इतने से बात कुछ बनती नहीं लगती। पता नहीं, शल्य जी विचार-प्रारूप-विशेष से सहमत होते हैं या नहीं किन्तु मुझे प्रतीत होता है कि काश्मीर-शैवदर्शन में इस प्रकार के विपर्यास का समाधान, उसकी तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं से सहमत होने पर सहज ही उपलब्ध हो सकता है। विस्तारभय एवं अनौचित्य की आशंका से शैवमत के तत्सम्बन्धी पक्ष का विवेचन हम स्थगित रखना चाहेंगे। वैसे भी भला शल्य जी जैसा स्वतन्त्र चिन्तक एवं सृजनात्मकता व तद्गत अपूर्वता का हिमायती दार्शनिक किसी स्थापित विचार-व्यवस्था (सिस्टम) के अन्तर्गत किन्हीं पूर्वमान्यताओं को क्यों स्वीकार करना चाहेगा?

'मृत्युचिन्तन' पर केन्द्रित अपने अगले दो निबन्धों में शल्य जी ने मृत्यु, अस्तित्व व पुनर्जन्म से सम्बद्ध अनेक मूल व आनुषंगिक प्रकृति के शाश्वत प्रश्नों पर विचार किया है। इन लेखों के अन्त में दी गई पादटिप्पणी में (पृष्ठ-64) शल्य जी ने पुनर्जन्म की अवधारणा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को आगम प्रमाण के आधार पर मानने से असहमति प्रदर्शित की है।वे सम्भवतः तथाकथित आर्ष प्रत्यक्ष को भी आत्मप्रत्यक्ष के द्वारा पुष्ट हुए बिना स्वीकार करने को उद्यत नहीं दिखते। जिज्ञासा व अनुसन्धान की दिशा में उदारता किन्तु परम्परागत मान्यताओं की स्वीकृति में सावधानी व कृपणता एक शुद्ध दार्शनिकता का द्योतक लक्षण कहा जाएगा।

'आत्मचिन्तन' के अन्तर्गत चेतना की 'प्रत्यङ्मुखता' एवं उसकी 'अनन्तपर्यन्तता' (पृ. 69) पर विचार किया गया है। पुरुषार्थों का विवेचन चेतना की आत्मचेतन अवस्था, अर्थात् आत्मा की प्रत्यङ्मुखी अनुसन्धित्सा के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। पुरुषार्थों को लोकोत्तर अन्वेष्यार्थ तथा सृजन दोनों ही दृष्टियों से व्याख्यायित किया गया है। अतिक्रामी व सृजनात्मक आत्मचिन्तन के कबीर, बुद्ध व गाँधी जैसे आदर्श उदाहरणों के अतिरिक्त शल्य जी आत्म-चिन्तकों के उस वर्ग पर भी विचार करते हैं जो जैव अर्थों के वशवर्ती रहते हुए भी विज्ञान, दर्शन, काव्यादि अर्थों के गवेषी महान् पुरुषों को सम्मिलित करता है।

'अध्यास' नामक लेख में उनके द्वारा प्रस्तुत अध्यास के सम्प्रत्यय का अर्थ वस्तुतः उनके द्वारा किये गए वैदान्तिक सम्प्रत्ययों के नवोन्मेषकारी अर्थसृजन का परिचायक है। इस प्रसङ्ग में वे कहते हैं–'आत्मानात्म अध्यास रज्जु को सर्प समझने जैसा ज्ञानवृत्तिक भ्रान्तिरूप नहीं होता, देहादि को आत्मा समझने जैसा भ्रान्तिरूप भी नहीं होता, वह अध्यास अपने से अपनी निष्कृतिरूप, अपने से अपने प्रवासरूप होता है (पृष्ठ-85)'। इस नवीन अर्थसृजन को लेकर आदरणीय मुकुन्द जी की टिप्पणी बहुत सटीक है। तदनुसार, अर्थविवेचन की अनुवृत्यात्मक 'स्थाणु प्रक्रिया' से हटकर 'दृष्टि के एक गहरे उन्मेष के साथ' (पृष्ठ 87), यहाँ एक पारम्परिक दार्शनिक सम्प्रत्यय का नवीन अर्थ सृजित किया गया है।

प्रमाण-प्रमेय सम्बन्ध का विवेचन करने वाले अगले लेख में शल्य जी डॉ. अम्बिका दत्त शर्मा के **उन्मीलन** वर्ष-2000 में प्रकाशित लेख **'प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धि अथवा प्रमेयाद्धि प्रमाणसिद्धिः'** को अंशतः सन्दर्भित करते हुए विषयान्तर्गत अनेक अवधारणाओं की प्रत्यङ्मुख चेतना की सृजनात्मकता के परिप्रेक्ष्य में नवीन व्याख्यायें प्रस्तुत करते हैं। अनवस्था नामक स्थापित तर्कदोष को परम्परा से हटकर नया अर्थ देते हुए शल्य जी लिखते हैं–'यह अनवंस्था, जिसे एक असाध्य तर्कदोष के रूप में देखा जाता है, वास्तव में दोष नहीं होकर प्रत्यङ्मुख चेतना की अतलान्तगहनता में अवस्थिति भी हो सकती है,...यह आत्मचेतन चेतना का अनवस्था प्रसङ्ग है जो उसके तत्त्व की अनवगाह्य गुह्यता को दर्शाता है' (पृष्ठ-97)। इस लेख में एक अन्य विशिष्टता परिलक्षित होती है। शल्य जी प्रमाण-प्रमेय प्रसङ्ग को ज्ञान के अतिरिक्त धर्माधर्म तथा विविध मूल्यांकन प्रसङ्गों तक विस्तार देना चाहते हैं। किन्तु उनका यह दूसरा प्रयास मात्र साङ्केतिक है। तत्सम्बन्धी विवेचन तो मात्र डेढ़ पृष्ठों में ही सिमट गया है। कई बार शल्य जी किसी नई दृष्टि या दिशा का सङ्केत मात्र करके पाठक को मानो उसकी अपनी चेतना की सृजनात्मकता के सहारे छोड़ देते हैं। इसी लेख में किसी प्रसङ्गविशेष में शल्य जी ने 'चेतना की प्रत्यङ्मुखताजन्य अर्थसम्भार की अनवगाह्यता और अपारता' (पृष्ठ-102) जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। यह कथन अन्य प्रसङ्ग में है किन्तु मुझे यहां भाष्य एवं अर्थसृजन व अर्थबोध की भारतीय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विधाओं का, जिन्हें श्रुत्यर्थपर्यालोचना के नाम से व्यक्त किया जाता है, एवं पाश्चात्य 'हर्मेन्युटिक्स' का स्मरण हो आता है और ऐसा प्रतीत होता है कि चिद्गत सृजनात्मकता में इन सारे प्रयासों का बीज व विकास दोनों ही उपलब्ध होते हैं, प्रतीक तो मानो अर्थवहन की अतल सम्भावना के द्योतक मात्र हैं। चेतना की प्रत्यङ्मुखता उनमें नवोन्मेषकारी अपूर्व अर्थ का संचार करती रहती है।

स्याद्वाद की शल्य जी कृत विश्लेषणात्मक आलोचना में एक गहरी दृष्टि परिलक्षित होती है। **'अनेकान्तवाद और स्याद्वाद'** पर केन्द्रित निबन्ध में उन्होंने आचार्य श्री महाप्रज्ञ के विवेचन को मुख्य रूप से दृष्टि में रखा है। तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं के प्रसङ्ग में जैनियों के मत की असमीचीनता तथा उनकी दृष्टि की तद्विषयक स्थूलता को सिद्ध करने के साथ ही शल्य जी यह भी प्रतिपादित करते हैं कि जैन मतावलम्बियों के द्वारा उनके सापेक्षतावाद को निराग्रहता व उदारता आदि से जोड़ना युक्तिसङ्गत नहीं है।

आगे के दो अध्याय **'इतिहास दर्शन'** से सम्बन्धित हैं। इस प्रसङ्ग में विवरणात्मक दृष्टि की अपेक्षा समग्रतामूलक दृष्टि को महत्तर निरूपित करते हुए शल्य जी समाज को समग्रता से समझने के दो रूप बतलाते हैं : तादात्म्यपरक व बाह्यदर्शकपरक। इन दोनों विधाओं का यौगपद्य वे आत्मविषयक ज्ञान में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इतिहासकार समाज को बाह्यदर्शक की भूमिका से देखता है जबकि महाकाव्यकार या उपन्यासकार उसे तादात्म्य की भूमिका पर से देखता है (पृष्ठ-111)। पुनः, शल्य जी इतिहास के दो प्रकार स्पष्ट करते हैं : विवरणात्मक इतिहास एवं साक्षात्कारात्मक इतिहास। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि साक्षात्कारात्मक इतिहास में भी विवरण की भूमिका हो सकती है। वे स्पेंग्लर, हेगल, मार्क्स, बर्क्खार्ट, ई.एच. कार, श्री अरविन्द आदि के इतिहास-दर्शन व विकास के सिद्धान्तों पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करते हैं तथा इसी क्रम में तद्विषयक अपनी मौलिक दृष्टि का भी प्रतिपादन करते जाते हैं। इतिहास को ब्रह्माण्ड स्तर पर देखने पर जागतिक सृष्टि में एक स्तरक्रम स्पष्ट दिखता है (पृष्ठ-118) तथा उसमें एक ऊर्ध्वगतिक्रम भी स्पष्ट रूप से प्रतबिम्बित होता है (पृ. 117)। शल्य जी ने यहाँ अपना अभिमत स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'मनुष्य के इतिहास का अर्थ सामाजिक मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना का विकास' समझना चाहिए (पृष्ठ-120)। साथ ही, शल्य जी इसी अध्याय में दो अन्य महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ करते हैं : तदनुसार, मानव की इतिहास–यात्रा अनिवार्यत: प्रगति की ओर ही अग्रसर नहीं है (पृष्ठ 121) तथा यह कि इतिहास का यह चरण कोई अन्तिम चरण नहीं है (पृष्ठ-123)। विकास की वैश्व प्रक्रिया को शल्य जी एक ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं जिसमें श्री अरविन्द के मत के अनुरूप चेतना की एक आत्मानुसन्धान-यात्रा निहित हो। किन्तु श्री अरविन्द के मत से अपने मत का भेद प्रतिपादित करते हुए शल्य जी स्पष्ट करते हैं कि 'उनके मत से हमारे मत में यह आधारभूत अन्तर है कि हम इसे ब्रह्मचैतन्य द्वारा अपने पुनरधिगमन की प्रक्रिया के रूप में नहीं देखकर चेतना के वास्तव आत्मानुसन्धान की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं' (पृष्ठ 133-34)। यहाँ शल्य जी का सङ्केत एक सूक्ष्म किन्तु महत्त्वपूर्ण अन्तर की ओर है। पुनः वे मानव के इतिवृत्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को सोपानक्रम में समझने के पक्षधर नहीं हैं। उनका कथन है कि इतिहास का विषय सामान्यतः समाज का अतीत होता है, किन्तु अतीत का वह अंश या घटना जो 'अर्थगहन' हो। शल्य जी की लेखनी उनकी दृष्टि की विस्मयकारी रूप में अनुगामिनी है। द्रष्टव्य है कि उनका यह कथन कि अतीत में गए बिना भी 'मूल्यपर्येषणा–अभीप्सा' या 'पुरुषार्थ दृष्टि' के आधार पर उस 'मूल सांस्कृतिक अभिनिवेश' (पृष्ठ 130-31) को समझा जा सकता है जो किसी इतिहास-दर्शन के लिए अपेक्षित होता है।

उन्मीलन के जनवरी, 1996 के अङ्क में दया जी के ऋत सम्बन्धी क्रान्तिकारी व मंथनकारी विचार पर शल्य जी ने अपने अगले लेख **'प्राकृतिक नियम और मानवीय अनियम'** में अपना सृजनात्मक किन्तु प्रतिक्रियात्मक चिन्तन प्रस्तुत किया है। यहाँ 'प्रतिक्रियात्मक' से मेरा तात्पर्य मात्र समालोचनात्मक है। दयाजी के चिन्तन में भी शल्य जी की विचारविधा के एक पक्ष विशेष के समान वैचारिक परम्परा में अवगाहन के साथ परम्परा-प्रसूत मान्यताओं को झकझोरने की क्षमता एवं प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। यह वस्तुतः बड़ी धनात्मक प्रवृत्ति है। नवोन्मेषकारी सृजनात्मक उत्तरों, समाधानों का सम्प्रेरक तत्त्व बनने के अतिरिक्त कभी-कभी यह प्रवृत्ति उस दिशा में गहन अनुसन्धानों की ओर भी समकालीन विचारकों को प्रेरित करती है जहाँ वह तथ्य गुप्त, लुप्त अवस्था में पड़ा हो जो पारम्परिक सिद्धान्त को पूर्णता व सङ्गति प्रदान करने में समर्थ हो। यह छोटा सा लेख भी समीक्षक को यौक्तिक विस्तार की ओर प्रेरित करता है, किन्तु समीक्षा की आत्मनिर्धारित सीमा सम्प्रति उस पर प्रभावी है। मनुष्य व इतर जगत् में ऋत का स्वरूप व भूमिका समान रूप से स्वीकार करना असङ्गतियों का जनक हो सकता है। शल्य जी ने एतद्विषयक अन्यान्य विसङ्गतियों के मूलभूत निस्तारण के लिए एक परिकल्पनात्मक समाधान प्रस्तुत किया है जिसे वे स्वयं एक 'यथार्थदर्शी कल्पना' (पृष्ठ-140) कहते हैं–'... यह ब्रह्माण्ड अपने ऋत की साधना के क्रम में ही मनुष्य तक पहुँचा है और यहाँ पहुँच कर वह आत्मचेतन हो गया है। यह चेतना उसे जगत् की अङ्गरूपता से और इस प्रकार उसके शासन से मुक्त कर उसे उसके और अपने नियम के निर्माता या अन्वेषक की भूमिका में प्रतिष्ठित कर देती है। अब भौतिक नियम और व्यवस्था उसके लिए ऋत नहीं होकर ऋत की साधना का चरण हो जाती है, अथवा यह उस आत्मानुशासन का जड़ प्रतिबिम्ब हो जाती है जो ब्रह्माण्डीय आत्मान्वेषण की पार्यंतिक सिद्धि है' (पृष्ठ 139-140)। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अनुसार अपने नियम के निर्माता या अन्वेषक की भूमिका में प्रतिष्ठित हुई मानवीय चेतना नियमों का सृजनात्मक दर्शन आत्मचेतनभूत प्रत्यङ्मुखी चेतना के अतलान्त सत्त्व में करती होगी।

'वरण की प्रामाणिकता' के प्रश्न से जुड़ा हुआ अगला लेख अज्ञेय जी तथा कार्ल यास्पर्स के सम्वाद एवं तदुपरान्त अज्ञेय जी के असन्तोष पर शल्य जी की प्रतिक्रिया पर केन्द्रित है। उक्त सम्वाद से उत्प्रेरित हो प्रोफेसर रमेशचन्द्र शाह ने यह अस्तित्ववादी प्रश्न उठाया है कि जब हमने अपने पार्थिव जीवन का वरण नहीं किया है तो तदाधारित हमारे नीतिशास्त्र का क्या प्रमाण है? विचारक्रम में शल्य जी ने पूर्ण तटस्थ भाव से विश्लेषण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किया है। वे कहते भी हैं : 'कार्ल यास्पर्स का उत्तर वास्तव में ही उत्तर नहीं है, किन्तु क्या अज्ञेय जी का प्रश्न सही प्रन है?' (पृष्ठ-145) ऋत से जुड़े पूर्व लेख एवं इस लेख में शल्य जी की गहन साम्प्रत्ययिक विश्लेषण की प्रवृत्ति उजागर हुई है। लेख के अन्तिम अनुच्छेद में उन्होंने अज्ञेय, प्रोफेसर शाह व अन्य अनेक अस्तित्ववादियों द्वारा उपस्थापित उक्त प्रश्न व समस्या को उस उद्विग्नता से प्रेरित बतलाया है जो एक गम्भीर दार्शनिक अनास्था में उपजी है। इसके आगे वे ईश्वर, परिवार व समाज से जुड़े मूल्यों के प्रति अनास्था को भी कारण रूप में सङ्केतित करते हैं। अन्तिम पंक्ति किसी सम्भावित सन्तोषप्रद तत्त्वमीमांसीय अवलम्ब एवं एतद्विषयक निर्णय की दिशा में इंगित मात्र कर एक प्रश्नवाचक चिह्न के साथ पाठक को अनसुलझी अवस्था में ही छोड़ जाती है। यह अनुच्छेद पाठकों को प्रेरित कर सकता है और उन्हें यह अधिकार भी है कि वे यह जान सकें कि शल्य जी के सम्पूर्ण दर्शन में उस ईश्वर का स्वरूप व स्थिति क्या है जिसके प्रति यहाँ सङ्केतित अथवा निर्दिष्ट आस्था मानव को उक्त अस्तित्ववादी प्रश्न व अनुवर्ती उद्विग्नता से मुक्त रखने वाली बतलाई गई है।

इलाहाबाद संग्रहालय के आमन्त्रण पर लिखे गए '**सृजन व परिवेश, अथवा सत्य की खोज**' नामक लेख में शल्य जी ने यह प्रतिपादित करना चाहा है कि सृजनात्मक चेतना में सत्यदृष्टि का उन्मेष तथा अपूर्वता लक्षणरूप है (पृष्ठ-151)। सृजनात्मकता तथा परिवेश के पारस्परिक सम्बन्ध व प्रभाव को यहाँ गम्भीरता से विश्लेषित किया गया है। परिवेश के अन्तर्गत शल्य जी समाज व संस्कृति को सम्मिलित करते हैं। वस्तुतः ये दोनों 'चेतना की सृजनात्मकता और उसके प्रतिफल होते हैं' (पृष्ठ-156)। पारम्परिक रूप में उपलब्ध होने वाली 'प्रतीक व्यवस्था और मूल्य व्यवस्था का अतिक्रमण' तथा 'तत्त्वों का अव्यवहित साक्षात्कार' करने वाला व्यक्ति ही सृजनात्मक कहा जाएगा। प्रचलित या पारम्परिक प्रयोग से परे वाच्य अर्थों के अव्यवहित साक्षात्कार के परिप्रेक्ष्य में भाषागत सृजनात्मकता के कबीर सदृश अतिक्रामी व्यक्ति का उदाहरण शल्य जी को अत्यन्त प्रिय है। परिवेशगत प्रभावों का ग्रहण सृजनात्मकता में अधिकांशतः निषेधात्मक होता है (पृष्ठ-164)। किन्तु इसे शुद्ध रूप से प्रतिक्रियात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह अपूर्व व सृजनात्मक अर्थपूर्वक होता है। सृजनात्मकता अपूर्व, नवोन्मेषकारी व अतिक्रामी होते हुए भी दृष्ट यथार्थ की द्योतक होती है। इस लेख में शल्य जी के अपने सृजनात्मक लेखन को लेकर एक शाब्दिक अभिव्यक्ति अच्छी बन पड़ी है : 'दृष्टि और शब्द का युगपद् उन्मेष' (पृष्ठ-163)। यदि यहाँ इस सूत्र वाक्य से उन आगमिक सन्दर्भों की तुलना की जाए जो 'वाक्' व 'दृष्टि' या 'दर्शनों की स्थिति' विषयक सिद्धान्तों के प्रतिपादक हैं तो एक गम्भीर व स्वतन्त्र लेख का विषय उपस्थापित हो जाएगा। वस्तुतः नवोन्मेषी अर्थ-साक्षात्कार एवं तद्बोधक नव पद या शब्द-सृजन दोनों ही प्रातिभ ऋतम्भरा के स्वाभाविक प्रतिफल हैं।

अन्यत्व व उसके विविध रूप' नामक लेख के अन्तर्गत शल्य जी ने 'अन्यत्व' का विवेचन विभिन्न दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक सन्दर्भों में किया है। उनकी मान्यता है कि 'बोधहीन दृष्टि' हमें पश्चिम से प्राप्त हुई है (पृष्ठ-171)। किन्तु वे आशावान् भी हैं, क्योंकि 'पश्चिम से सम्पर्क के आरम्भिक चरणों में एक बोधमूलक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जागृति का आविर्भाव हमारे यहाँ हुआ था' (पृष्ठ 171)। शल्य जी के शब्द-प्रयोग साभिप्राय होते हैं। दृष्टि 'बोधमूलक' तथा 'बोधहीन' दोनों ही प्रकार की हो सकती है। दृष्टि का दृष्टि मात्र होना पर्याप्त कहा जाएगा। यह गूढ़ विषय विशद विवेचन की अपेक्षा रखता है। सम्भवतः 'बोधमूलकता' एवं 'बोधहीनता' के विनिश्चय व निर्धारण के लिए सक्षम व मान्य निष्कर्ष अपेक्षित होगा।

विज्ञान, परम्परा और नियति' का विवेचन करने वाले अगले लेख की मूल प्रस्तुति इलाहाबाद संग्रहालय में आयोजित एक परिसम्वाद में 1998 में की गई थी। इस लेख में सूत्र रूप में उल्लिखित वाक्य, 'मानव-नियति पद में वदतो-व्याघात है' (पृष्ठ 176) चिन्तन का एक स्वतन्त्र विषय है। इस लेख में, प्रस्तुत ग्रन्थ के परिप्रेक्ष्य में देखें तो, पहली बार समकालीन सामाजिक व राजनीतिक परिस्थिति के प्रति शल्य जी के गहरे सरोकार के भाव 'अत्यधिक' मुखर हो उठे हैं। यहाँ उन्होंने राजनीति से जुड़े विभिन्न विवादास्पद प्रसङ्गो में अपने अभिमत को प्रकट करने में भी संकोच नहीं किया है (द्रष्टव्य : पृष्ठ-178, 180, 182)। गाँधी जी के विषय में उनका यह कथन है कि गौडसे द्वारा उनका दैहिक हनन उस हनन की तुलना में नगण्य था जो नेहरू जी के नेतृत्व में आध्यात्मिक रूप में पूरे देश ने किया। इस अनुच्छेद को वैयक्तिक अभिमत की श्रेणी में रखना ही उपयुक्त होगा। एक अन्य राजनीतिक व विवादास्पद प्रसङ्ग में शल्य जी अपने अभिमत की अभिव्यक्ति को पुनः नहीं रोक सके, या सम्भवतः रोकना ही नहीं चाहते थे। वे अपने देश के एक पूर्व प्रधानमंत्री के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए लिखते हैं : 'हमारी अमर शहीद' नेता ही पंजाब और काश्मीर के आतंकवाद की जननी थी (पृष्ठ 182)। इसी लेख का एक अन्य अनुच्छेद अधिकांश राजनीतिक दलों के आचरण से उत्पन्न असन्तोषजनक स्थिति पर शल्य जी की पीड़ा को व्यक्त करता है : 'हमारे देश की आज सबसे बड़ी दुर्बलता हमारा नैतिक क्षय है। किन्तु यह स्थिति बदले कैसे, ... हमारे समाज ने अनेक बार यह सङ्कल्प प्रदर्शित किया। पहले इन्दिरा गाँधी को चुनाव में हराकर, उसके बाद राजीव गाँधी को हराकर। किन्तु जब नैतिक राज्य-व्यवस्था और नैतिक जीवन का आश्वासन देकर आए लोग भी उतने ही अनैतिक सिद्ध हुए तब ...' (पृष्ठ 181-82) यहाँ शल्य जी ने समीक्षक के मानस को झकझोर दिया है। एक नौसिखिया समीक्षक अपने लेखक की एक छवि अपने मन में बना लेता है और आशा करने लगता है कि उसका लेखक उस छवि को कभी नहीं लाँघेगा। कभी ऐसा हो जाए तो समीक्षक निराश हो उठता है और अपनी पीड़ा व्यक्त करने लगता है। मैं यह जानता हूँ कि न केवल मैं शल्य जी को उनकी कृति में देख पा रहा हूँ बल्कि वे स्वयं भी इस समीक्षा में मुझे देख रहे होंगे। सो मैं अपने नौसिखियापन को भला क्यों ज़ाहिर होने दूँ? फिर भी विवादास्पद एवं अभिमत बाहुल्य वाले राजनीतिक व अन्य प्रसङ्गों में यदि हम साम्प्रत्ययिक स्तर के विश्लेषण तक अपने को सीमित रखें तो सम्भवतः हमारा कथन कालातीत प्रभाव वाला होगा, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। व्यक्ति विशेष का उदाहरण देते हुए विवादास्पद राजनीतिक प्रसङ्गों में अपने अभिमतप्रकाशन में लेखक अनचाहे ही साधारण पाठकों के एक बृहत्तर व गहनतर रूप में हितकारी पक्ष का हनन कर बैठता है। साधारण पाठक गहरी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दृष्टि को समझने की अपेक्षा उल्लिखित विवादास्पद अभिमत प्रकाशन में अपना पक्ष अथवा विपक्ष देखता है एवं सतही अध्ययन तक सीमित हो जाता है। वह उस गहराई तक पहुँच ही नहीं पाता जहाँ तक उसे लेखक मूलत: ले जाना चाहता था। मैंने यहाँ पाठक के साथ 'साधारण' शब्द सप्रयोजन रखा है।

मानवचेतना के अनेक आयामों में से दो **'धर्म और विज्ञान'** का विवेचन करते हुए शल्य जी ने अगले लेख में प्रतिपादित किया है कि इनमें से कोई भी एक आयाम दूसरे की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता को निर्धारित नहीं कर सकता (पृष्ठ-183)। दर्शन को अपेक्षाकृत महत्तर भूमिका प्रदान करते हुए शल्य जी उसे इन दोनों के बाह्य सत्यासत्य या साधारता-निराधारता के निर्धारक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। किन्तु दार्शनिक परीक्षा भी इनके 'विभिन्न आयामों की अन्तरङ्ग व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं कर सकती' (पृष्ठ-184)। धर्म और विज्ञान के तथाकथित समन्वय के प्रति आग्रह की एक उपयुक्त समालोचना भी इस लेख में उपलब्ध है। रही बात **'दृष्टिसम्पन्न धार्मिकों'** व **'दृष्टिसम्पन्न वैज्ञानिकों'** (पृष्ठ-188) की। तो, न तो इनमें विरोध होता है और न ही समन्वय की आवश्यकता। इसी क्रम में शल्य जी एक समकालीन भ्रामक प्रवृत्ति का उल्लेख करते हैं : 'धर्म और विज्ञान के समन्वय की बात, जो बहुत से धार्मिक लोग विज्ञान को नहीं समझने के कारण उसके प्रति सम्मान से अभिभूत होकर करते हैं, कोई अर्थ नहीं रखती' (पृष्ठ-187)। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह भ्रान्त धारणा व एकाङ्गी प्रवृत्ति 'विज्ञान को नहीं समझने' मात्र के कारण न होकर मूलत: धर्म के निहितार्थ को न समझने के कारण है। तद्गत महत्ता से परिचित व्यक्ति विज्ञान के प्रति एकाङ्गी 'सम्मान से अभिभूत' नहीं होगा।

प्रोफेसर राजेन्द्र स्वरूप भटनागर तथा डॉक्टर राजवीर सिंह शेखावत के प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करते हुए शल्य जी समीक्ष्य ग्रन्थ में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी जोड़ते हैं। इस अंश में शल्य जी ने अपने जीवन, कृतित्व, अभिमत तथा स्वयं पर अनेक ग्रन्थों व व्यक्तियों के प्रभाव का वर्णन करने के साथ ही कुछ आधारभूत सम्प्रत्ययों का अर्थ प्रकाशन भी किया है। उनके द्वारा दी गई सृजन की परिभाषा अत्यन्त सारगर्भित और स्पष्ट है : 'सृजन का अर्थ मेरे लिए आत्मचरितार्थन, आत्मगत सत्य अथवा आत्मस्वरूप की सिद्धि तथा अनात्म का, या कहें आत्मगत-व्यवधान का निवारण है' (पृष्ठ 192-93)। यह उल्लेखनीय है कि इस आत्मचरितार्थन में अर्थों की असीमता अनवरत अतिक्रामी व प्रातिभ रूप में उपलब्ध होती है। इस अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में वैचारिक सीमाङ्कन परक उनका ही एक पूर्वकथन विपरीत ध्वनित होता है। **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** के 'प्राक्कथन' में शल्य जी ने कहा था– "मेरे विचारों में एक विकासक्रम है और यह क्रम इस पुस्तक में चरम परिणति को प्राप्त हुआ है। आगे इस विचार के प्रतिपादन में परिष्कार और गहराई तो आ सकती है, विकास नहीं हो सकता।" मैं तो हिन्दी में नवीन दार्शनिक पदों के इस समृद्ध रचनाकार व अर्थपरक नित्य नवोन्मेषों के (इस) प्रातिभ द्रष्टा के चिन्तन पर कहीं भी पूर्ण विराम देख पाने में असमर्थ हूँ। सिद्धान्त विशेष को 'चरम परिणति' के रूप में स्वीकार किये रहना कहीं पूर्वग्रह तो नहीं होगा? समीक्ष्य पुस्तक में ऐसा कोई कथन अप्राप्त है। इस ग्रन्थ में तो शल्य जी की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रचनाधर्मिता तथाकथित विकास की किसी चरम परिणति में न रुकते हुए निरन्तर अर्थसृजन के अनिर्धारित व अनन्त आयामों को चरितार्थ करती प्रतीत होती है।

वस्तुतः मूल दृष्टि की प्रस्तुति हेतु किया गया सारा वैखरी व्यापार ही समीक्षा की विषयवस्तु बनता है, न कि उसका मूल, जो सृजनात्मक दृष्टार्थ के रूप में चेतना की प्रत्यङ्मुखता में अव्यवहित रूप से उपलब्ध होता है। यह सृजित अर्थ तथा उसका साक्षात्कार दोनों ही चिद्गत हैं, प्रक्रिया में अव्यवहितत्व भी है। समीक्षा तो बस ऊपरी तानों-बानों की सम्भव होती है। शल्य जी वैखरी व्यापार के अन्यान्य क्षेत्रों को भी पर्याप्त महत्त्व देते प्रतीत होते हैं। द्रष्टव्य है कि उनका अन्यत्र (उन्मीलन, वर्ष-18, अंक-2, जुलाई, 2004; पृष्ठ-189) व्यक्त एक विशिष्ट विचार, 'पराङ्मुख वृत्ति की प्रत्यङ्मुखता में जो अर्थसम्पदा का हमें साक्षात्कार होता है : काव्य, दर्शन, विज्ञान आदि में : मूल्यवान् तो वह भी होता है। इस सम्पदा को निवृत्तिपरक वृत्ति में साक्षात्कृत सम्पदा से कम मूल्यवान् क्यों माना जाए? ... बुद्ध उस सम्पदा को पाने में असमर्थ रह सकते हैं जो वेदव्यास, कालिदास या नागार्जुन को उपलब्ध होती है।' उक्त उल्लेख वर्तमान ग्रन्थ से सम्बद्ध नहीं होते हुए भी लेखक को समझने की दिशा में मुझे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि शल्य जी के विवेचनों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रत्यङ्मुखताजन्य सृजनात्मकता के अनन्त वैभव की सम्भावनाओं का तटस्थ व बेलाग निरूपण मात्र है। एतत्प्रकारक निरूपण में वे किसी आदर्शमूलकता के पूर्वग्रह से सर्वथा मुक्त हैं।

प्रियव्रत शुक्ल,
प्रवाचक, दर्शन विभाग,
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर (मध्य प्रदेश)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

1.	धर्म-संकट	-	मुकुंद लाठ	200.00
2.	मूल्यतत्त्व-मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	-	यशदेव शल्य	200.00
3.	चिद्विमर्श	-	यशदेव शल्य	175.00
4.	तत्त्व-चिन्तन	-	यशदेव शल्य	200.00
5.	काव्य-विमर्श	-	यशदेव शल्य	250.00
6.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-धाराएं	-	यशदेव शल्य भगवती	150.00

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai